* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

वर्ष ६०] * * * [संख्या ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, नवम्बर १९८६

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.२५ रु०
विदेशमें १५ पेंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें ३०.०० रु०
विदेशमें ८०.०० रु०
(५ पौंड)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्द-भवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

पुष्पकारूढ़ श्री राम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
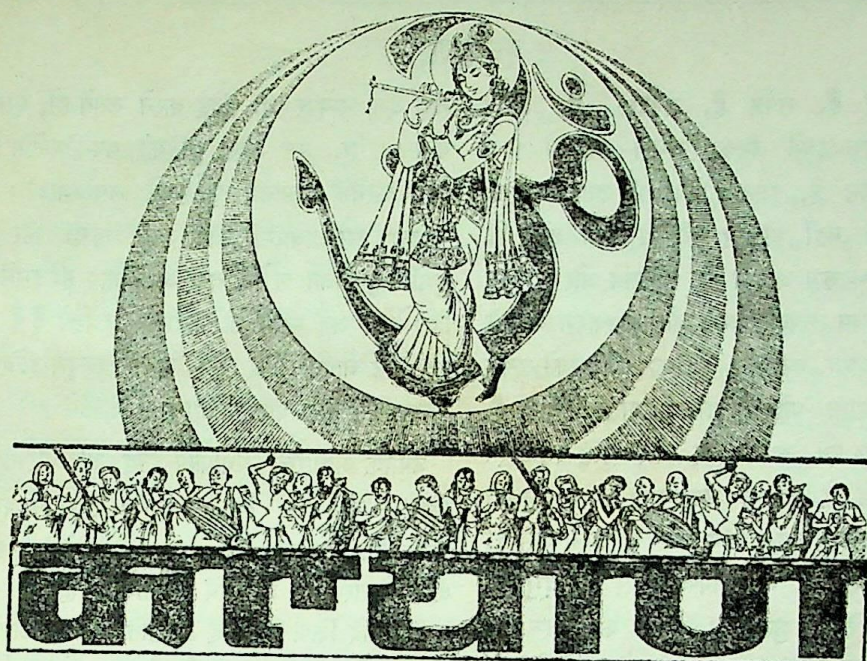
चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं श्रेयःकैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥

वर्ष ६० | गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१२, नवम्बर १९८६ ई० | संख्या ११ पूर्ण संख्या ७२०

पुष्पकारूढ श्रीरामकी वन्दना

केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं
शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम् ।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं
नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम् ॥

'जो मोरके कण्ठकी आभाके समान (हरिताभ) नीलवर्ण, देवताओंमें श्रेष्ठ, ब्राह्मण (भृगुजी) के चरणकमलके चिह्नसे सुशोभित, सौन्दर्यशाली, पीताम्बरधारी, कमलनेत्र, सदा परम प्रसन्न, हाथोंमें बाण और धनुष धारण करनेवाले, वानरसमूहसे युक्त, भाई लक्ष्मणद्वारा सेवित, स्तुति किये जाने योग्य और श्रीजानकीजीके पति हैं, उन पुष्पक-विमानपर सवार रघुश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीको मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ ।'

कल्याण

भगवान् हैं, सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं, किसी भी देश-काल-पात्रमें उनका अभाव नहीं है। वे सच्चिदानन्दघन हैं, इतना होनेपर भी उनका अनुभव सबको क्यों नहीं होता? इसीलिये नहीं होता कि उनका तत्त्व-स्वरूप अत्यन्त ही पवित्रतम और सूक्ष्मतम है। उस सूक्ष्म तत्त्वको जानने और अवधारण करनेके लिये तुम्हें शरीर, मन और बुद्धिरूप आधारको उसके उपयुक्त बनाना पड़ेगा। जबतक शरीर अशुद्ध है, चित्त चञ्चल एवं अपवित्र है और बुद्धि स्थूल एवं व्यभिचारिणी है, तबतक भगवान्‌की यथार्थ अनुभूति नहीं हो सकती। तप, शौच और आचारसे शरीरको शुद्ध करो। सत्सङ्ग, भगवन्नाम-जप और भगवद्गुणोंके चिन्तनसे चित्तको शुद्ध और संयत करो, परम सत्य एकमात्र परमात्माके स्वरूपके ध्यानसे बुद्धिको सूक्ष्म और अव्यभिचारिणी बनाओ। फिर परमात्माका अनुभव होनेमें—भगवान्‌के दर्शनमें देर नहीं होगी।

इसीलिये आधारकी शुद्धिपर इतना बल दिया गया है। अशुद्ध आधारसे होनेवाला भगवत्प्रतिष्ठाका साधन यथार्थ आनन्द नहीं देता; क्योंकि परम शुद्धका प्रतिबिम्ब भी अशुद्धमें नहीं दीखता। साधन करते रहो। श्रद्धापूर्वक साधन करते-करते ज्यों-ज्यों आधार शुद्ध होगा, त्यों-ही-त्यों उसे भगवान्‌का पवित्र निवास-स्थान बननेकी योग्यता मिलती जायगी और त्यों-ही-त्यों आनन्द भी आने लगेगा। थोड़े आनन्दके लाभसे फिर अधिक आनन्दकी कामना बढ़ेगी और वह कामना साधनाग्निमें ईंधनका काम देगी।

याद रखो—आधारकी शुद्धि उस परम सत्यकी प्रतिष्ठाके लिये अत्यन्त आवश्यक है। तुम अशुद्ध आधारमें उसे धारण करना चाहते हो और जब वह नहीं होता, तब आधारकी अपरिणतिकी ओर तो ध्यान नहीं देते, सत्यपर ही संदेह करने लगते हो, ऐसा न करो। शरीर, मन और बुद्धिको यम-नियमोंके द्वारा शुद्ध करनेके प्रयत्नमें पूर्णरूपसे लग जाओ। जब भगवान् इस आधारमन्दिरको शुद्ध, स्वच्छ और दैवी गुणोंसे सुसज्जित पायेंगे, तब अपने-आप ही इसमें आ विराजेंगे। अब भी हैं तो सही, परंतु छिपे हैं। फिर पर्दा हट जायगा और तुम अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे उनका सुख-स्पर्श पाकर निहाल हो जाओगे।

जबतक आधारकी यथायोग्य शुद्धि और परिणति न होगी, तबतक उसमें किसी महात्माके द्वारा भी शक्ति-संचार किया जाना बड़ा कठिन है; क्योंकि अशुद्ध और अपरिणत आधारमें शक्तिपात होना सहज नहीं। यदि किया जाता है तो शक्तिको वहाँसे प्रतिहत होकर लौट आना पड़ता है और बलपूर्वक शक्तिको रखे जानेकी चेष्टा होती है, तो आधार उसे सहन न करके फटने लगता है, जिससे क्लेश बढ़ जाता है। कहीं शक्ति रह जाती है तो उसके निष्फल जानेकी ही नहीं, उससे कुफल होनेकी भी अत्यधिक सम्भावना रहती है। जैसे उदरामयके रोगीके लिये घृत विषका काम करता है, अथवा ताम्रके पात्रमें बनायी हुई खीर जहर-सी हो जाती है, उसी प्रकार अयोग्य पात्रमें उत्तम वस्तु भी प्रतिकूल फल देनेवाली बन जाती है। इसीलिये महात्मालोग जबतक आधारकी उचित परिणति नहीं देख लेते तबतक उसमें न रह सकने योग्य उत्तम वस्तुको नहीं देते। हाँ, आधारकी शुद्धि और परिणतिके लिये महात्माओंका सङ्ग करो और उनकी कृपाका आश्रय ग्रहण करो। महापुरुषोंकी कृपासे और उनके आज्ञानुसार आचरण करनेसे आधारकी शुद्धि शीघ्र हो जायगी और आधारकी शुद्धि होनेपर वे सहज ही शक्तिपात कर सकेंगे।

—'शिव'

मनोबोध—७

(समर्थ स्वामी रामदासजी महाराजकी वाणी)

नको वासना वीषईं वृत्तिरूपें ।
पदार्थी जडे कामना पूर्वपापें ॥
सदा राम निःकाम चिंतीत जावा ।
मना कल्पनालेश तो ही नसावा ॥ ५८ ॥

हे मन ! विषयोंमें वासना वृत्तिरूपसे भी न होनी चाहिये । शरीरको विषयभोगोंसे बचाये रखनेपर भी यदि मन विषयोंमें रहता है या आनन्द मानता है, तो इस बाह्य वैराग्य-प्रदर्शनका कोई अर्थ नहीं है । विषय-चिन्तन करनेवाला मन शरीरको पापकर्मकी ओर प्रवृत्त करता रहता है और अन्ततः मनुष्य पतनकी राहपर चल पड़ता है । इस तथ्यको समझकर मनको विषय-चिन्तनसे निवृत्त करनेका प्रयत्न अभ्यासपूर्वक करते हुए वैराग्यको धारण करना चाहिये, ऐसा समर्थ सद्गुरु कहते हैं । पदार्थोंमें कामना पूर्वजन्मके पापकर्मोंका ही फल है, अतः मनको विषय-वैराग्यसे पूर्ण करनेके लिये निष्काम होकर श्रीरामजीकी सेवा करनी चाहिये तथा कल्पनाका लेशमात्र भी नहीं होना चाहिये ।

मना कल्पना कल्पितां कल्पकोटी ।
नव्हे रे नव्हे सर्वथा रामभेटी ॥
मनीं कामना राम नाहीं जयाला ।
अती आदरें प्रीति नाहीं तयाला ॥ ५९ ॥

मनमें कल्पना करनेसे श्रीरामकी भेंट करोड़ों कल्पोंमें भी नहीं होगी । जिसकी भेंट श्रीरामसे नहीं हुई हो, उसके ही मनमें कामना होती है । जिसके मनमें श्रीराम नहीं, उसे ही आदर और प्रीति नहीं होते ।

मना राम कल्पतरु कामधेनू ।
निधी सार चिंतामणी काय वानूं ॥
जयाचेनि योगें घडे सर्व सत्ता ।
तया साम्यता कायसी कोण आतां ॥ ६० ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कामधेनु तथा कल्पतरु हैं, सारतत्त्व हैं, परमनिधि हैं, साक्षात् चिन्तामणि हैं, उनका वर्णन मैं कैसे करूँ ? जिनके कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी—सृष्टिकी सत्ता है (यह सम्पूर्ण जगत् टिका हुआ है), उनके वर्णनके लिये कोई उपमा नहीं सूझती ।

उभा कल्पवृक्षातळीं दुख वाहे ।
तया अंतरीं सर्वदा तें चि आहे ॥
जनीं सज्जनीं वाद हा वाढवावा ।
पुढें मागुता शोक जीवीं धरावा ॥ ६१ ॥*

कल्पवृक्षके नीचे खड़ा होकर भी मूर्ख मनुष्य दुःख पाता है । उसके अन्तःकरणमें सदैव वही दुःख रहता है । लोगोंमें सज्जनोंद्वारा वाद-विवाद बढ़ाया जाता है । बादमें शोकको हृदयमें धारण किया जाता है । इस प्रकारका आचरण तू मत कर । श्रीरामजी कल्पतरुके समान सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं, अतः उनकी कृपाछायामें रहकर तू दुःख मत कर ।

निजध्यास तो सर्व तूटोनि गेला ।
बळें अंतरीं शोक संताप ठेला ॥
सुखानंद आनंद भेदें बुडाला ।
मनीं निश्चयो सर्व खेदें उडाला ॥ ६२ ॥

आत्मविश्लेषणका अभ्यास सब छूट गया । अन्तःकरणमें शोक और संताप भर गया । सुखानन्दका भी आनन्द भेदभावके कारण डिग गया । नष्ट हो गया ।

(अनु०—कु० रोहिणी गोखले)

(क्रमशः)

---

* बद्ध व्यक्तिकी मूर्खताका वर्णन ६१वें श्लोकसे आ रहा है ।

मान-बड़ाईका त्याग

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जो उच्च कोटिके पुरुष हैं, जिन्होंने परमात्माका तत्त्व भलीभाँति जान लिया है, वे मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिको समान समझते हुए भी मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठासे दूर रहते हैं; क्योंकि साधनकालमें वे इन्हें विषके समान हेय तथा आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक समझकर इनसे बचते आये हैं और दृढ़ अभ्यासके कारण यही आचरण उनके अंदर सिद्धावस्थामें भी देखा जाता है । सिद्ध पुरुष वास्तवमें तो कुछ करते नहीं, किंतु उनके द्वारा लोकमें वैसा ही आचरण होते देखा जाता है, जैसा वे सिद्धावस्थाके ठीक पहले करते रहे हैं। सिद्धावस्थाको प्राप्त पुरुष कभी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता, जो संसारके लिये अनुकरणीय न हो । स्वयं भगवान्ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

ऐसे पुरुष अपने जीवनकालमें तथा मरनेके बाद भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाको नहीं चाहते। जो लोग उनके इस रहस्यको जानकर स्वयं भी मान, बड़ाई, प्रतिष्ठासे दूर रहते हैं, वे ही उनके सच्चे अनुयायी कहलाने योग्य हैं । इसके विपरीत जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके गुलाम हैं, किंतु कहते हैं अपनेको महात्माओंका अनुयायी, वे तो वास्तवमें महात्माओंके सङ्घको लजानेवाले हैं । जो लोग ऐसा मानते हैं कि महात्मालोग लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ही लोगोंको अपनी पूजा करनेसे रोकते हैं, वे तो ऐसा करनेवाले महात्माओंको एक प्रकारसे दम्भी सिद्ध करते हैं । जो लोग मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका त्याग इसलिये करते हैं कि ऐसा करनेसे लोकमर्यादाकी रक्षा होती है, किंतु हृदयसे अपनेको पुजवाना चाहते हैं, वे वास्तवमें महात्मा नहीं हैं । मरनेके बाद पूजा चाहनेका स्वरूप यह है कि लोग मरनेके बाद उनकी कीर्तिको स्थायी रखनेके लिये, उनकी स्मृति बनाये रखनेके लिये किसी स्मारकका आयोजन करें और वे लोगोंके इस विचारका समर्थन करें । यही नहीं, जो लोग अपने किसी पूज्य पुरुषके लिये इस प्रकारके स्मारकका आयोजन करते हैं, उनके सम्बन्धमें भी ऐसी धारणा अनुचित नहीं कही जा सकती । वे स्वयं भी अपने लिये यही चाहते हैं कि मेरे मरनेके बाद लोग मेरे लिये भी इसी प्रकारका स्मारक बनायें ।

जो कोई भी ऐसा चाहता है कि मरनेके बाद लोग मेरा चित्र रखकर उसकी पूजा करें और मेरी कीर्ति अखण्ड रहे, उसके सम्बन्धमें यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि वह परमात्माके रहस्यको नहीं जानता, वह निरा अज्ञानी है । ज्ञान एवं भक्ति दोनोंके ही सिद्धान्तसे हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं । ज्ञानके सिद्धान्तसे तो एक सच्चिदानन्द ब्रह्मके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, तब कौन किसकी पूजा करे और कौन किससे पूजा कराये । एक ही परमात्मा सर्वत्र स्थित है, वह अनन्त और सम है, ऐसी

स्थितिमें अपने एकदेशीय स्वरूपकी पूजा करानेवाला महात्मा कैसे समझा जाय। यदि कोई यह समझे कि पूजा ग्रहण करनेसे मेरा तो कोई लाभ-हानि नहीं, परंतु पूजा करनेवालेको लाभ पहुँचेगा, तो वहाँ यह स्पष्ट है कि ऐसा समझनेवाला अपनेको ज्ञानी और पूजा करनेवालोंको अज्ञानी समझता है, किंतु जो अपनेको ज्ञानी और दूसरोंको अज्ञानी समझता है, वह स्वयं अज्ञानी ही है। ज्ञानीके अंदर यह भावना कदापि सम्भव नहीं है कि मेरी पूजासे दूसरोंको लाभ पहुँचेगा। यदि यह कहा जाय कि ऐसा माननेवाला ज्ञानी तो नहीं हो सकता, किंतु जिज्ञासु तो ऐसा मान सकता है तो यह भी ठीक नहीं। अपनी पूजासे दूसरोंका लाभ समझनेवाला जिज्ञासु भी नहीं हो सकता। इस प्रकारकी धारणा जिज्ञासुके अंदर भी नहीं हो सकती। निरा अज्ञानी ही ऐसा सोच सकता है।

यदि यह मानें कि महात्मा स्वयं तो पूजा नहीं चाहते, परंतु लोगोंकी दृष्टिसे उन्हें महात्माओंकी पूजामें प्रवृत्त करनेके लिये वे ऐसा करते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि लोगोंको महात्माओंकी पूजामें लगाना तो ठीक है, परंतु ऐसा करना चाहिये अपने व्यक्तित्वको बचाकर ही। महात्माओंकी पूजाका आदर्श स्थापित करनेके लिये भी अपनेको पुजवाना ठीक नहीं। यदि महात्माओंकी पूजाका प्रचार ही करना है तो पहले भी तो अनेकों एक-से-एक बढ़कर महात्मा हो गये हैं और उनसे भी बढ़कर स्वयं भगवान्‌के अवतार हो चुके हैं, उन सबको छोड़कर अपनी पूजा करवानेकी क्या आवश्यकता है?

अद्वैतसिद्धान्तकी दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा और परमात्मा एक हैं, अतः अपनेसे भिन्न कोई है ही नहीं। इस सिद्धान्तको माननेवालेकी दृष्टिमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्ण भी अपने ही स्वरूप हैं, अतः उनकी पूजा भी अपनी ही पूजा है। फिर उनकी पूजासे हटाकर कोई ज्ञानी महात्मा कैसे चाहेगा कि लोग मेरी पूजा करें। जो ऐसा चाहता है, वह देहाभिमानी है, ज्ञानी नहीं। ज्ञानी पुरुषको तो चाहिये कि यदि कोई दूसरा भी ऐसा करता हो तो वह उसे रोके, उसका विरोध करे, जिससे उसका अज्ञान दूर हो। ऐसा न करके यदि वह स्वयं अपनेको पुजवाता है तो यही मानना पड़ेगा कि या तो वह अज्ञानी है, मूर्ख है या ढोंगी है। दम्भके द्वारा अपना उल्लू सीधा करता है, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाका किंकर है। इसके सिवा और क्या कहा जा सकता है।

श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिके स्वरूप नित्य एवं दिव्य हैं, हमारी तरह पाञ्चभौतिक—मायिक नहीं। पर महात्माओंका शरीर ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर मायाका कार्य होनेके कारण नाशवान्-क्षणभङ्गुर ही है। ऐसी दशामें किसी भी मनुष्यका शरीर चाहे वह बड़ा-से-बड़ा महात्मा ही क्यों न हो, भगवान् राम-कृष्णादिके अलौकिक सौन्दर्य एवं माधुर्यसे पूर्ण विग्रहोंकी समता कैसे कर सकता है। अतः भगवान् राम-कृष्णादिके दिव्य विग्रहोंकी पूजासे हटाकर जो अपने नाशवान् शरीरको पुजवाता है, वह वास्तवमें भगवान्‌के तत्त्वको नहीं जानता। इसी प्रकार भगवान्‌के दिव्य एवं मधुर नामोंसे हटाकर जो अपने नामकी पूजा, अपने नामका प्रचार करवाता है, वह भी ज्ञानी नहीं, अज्ञानी ही है।

यह तो हुई ज्ञानकी बात। भक्तिके द्वारा जो भगवान्‌को प्राप्त कर चुका है, वह भी भगवान्‌के स्थानपर अपनेको कैसे बैठाना चाहेगा। जो ऐसा करता है, वह तो अपनेको घोर अन्धकारमें

डालता है। यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं तो पूजा नहीं चाहता, परंतु कोमल स्वभाव होनेके कारण वह दूसरोंको पूजा करनेसे रोक नहीं सकता तो इसका उत्तर यह है कि जो भक्त दूसरोंको अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेसे रोक नहीं सकता, उन्हें समझा नहीं सकता, उसकी पूजा और प्रतिष्ठासे हमें क्या लाभ हो सकता है। भगवान्‌को प्राप्त हुए भक्तोंमें तो अलौकिक शक्ति होनी चाहिये। फिर यदि कोई मनुष्य भक्त होकर भी दूसरोंके द्वारा अपने प्रति किये जानेवाले पूजा-प्रतिष्ठा आदिको रोक नहीं सकता तो वह दूसरोंका कल्याण कैसे कर सकता है। किसी महात्माके नामपर, चाहे वह भक्ति, ज्ञान, योग—किसी भी मार्गसे पहुँचा हुआ हो, कोई अनुचित व्यवहार करे और वह उसे रोक न सके—यह असम्भव है। यदि कोई श्रीहनुमान्‌जीको भगवान् श्रीरामके स्थानपर बिठाकर पूजना चाहे तो भक्तशिरोमणि श्रीहनुमान्‌जी उसकी इस पूजाको कैसे स्वीकार कर सकते हैं। यदि किसी सेठकी गद्दीपर कोई उसके गुमाश्ते या मुनीमको ही सेठके रूपमें सजाकर उसका सम्मान करना चाहे और वह गुमाश्ता या मुनीम यदि स्वामिभक्त है तो वह उस सम्मानको कब स्वीकार करेगा। यदि करता है और सेठको इस बातका पता चल जाय तो वह अपने गुमाश्ते या मुनीमके इस व्यवहारको कैसे सहन करेगा। नमकहराम नौकर ही ऐसा कर सकता है। सच्चा भक्त ऐसी बात कभी सोच भी नहीं सकता। यहाँ तो गुमाश्ता या मुनीम सेठ बनकर ऐसा कर भी सकता है और सेठको पता ही न चले, परंतु भगवान् तो सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ ठहरे, उनसे छिपकर कोई कुछ कर ही नहीं सकता। भगवान् सजकर पूजा ग्रहण करना कोई भगवत्प्राप्त पुरुष तो कर ही नहीं सकता। भक्तिमार्गपर चलनेवाला साधक भी ऐसा नहीं कर सकता। इस प्रकारका अवसर अनायास कभी प्राप्त हो जाय तो भक्त साधक ऐसी अवस्थामें रोने लग जायगा, वह समझेगा कि यह तो मेरे लिये कलङ्ककी बात होगी। बात भी सच है, ऐसा करने-करानेवाला अपने और अपने भगवान् दोनोंपर कलङ्क लगाता है। जो भगवान्‌के नामपर अपनेको पुजवाता है, वह भक्तिका प्रचार करना तो दूर रहा, उल्टा संसारमें भ्रम फैलाता है और भगवान् भी उसकी इस करतूतपर मन-ही-मन हँसते हैं।

जो मनुष्य भगवान्‌के स्थानपर अपनेको बिठाकर पूजा ग्रहण करता है, उसके प्रति स्वाभाविक ही हमारी अश्रद्धा हो जाती है। इसी प्रकार हमें भी सोचना चाहिये कि यदि हम भी ऐसा करेंगे तो लोग हमें भी घृणाकी दृष्टिसे देखने लग जायँगे तथा इस प्रकार हमलोग भी महात्माओंके प्रति श्रद्धा बढ़ानेके बदले अश्रद्धा उत्पन्न करनेमें ही सहायक बनेंगे; क्योंकि वास्तवमें इस प्रकारका व्यवहार निन्दनीय ही है। सिद्ध पुरुषोंके द्वारा तो स्वाभाविक ही ऐसा आचरण होगा, जो साधकोंके लिये लाभदायक हो। संसारमें ऐसे पुरुष ही आदर्श माने जाते हैं, जिनके आचरण, उपदेश, दर्शन, स्पर्श एवं सम्भाषणसे दूसरोंका हित हो। अच्छे पुरुषोंके आचरण ही दूसरोंके लिये आदर्श होते हैं। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि महात्माओंमें अविद्याका लेश भी नहीं होता, फिर अविद्याका कार्य—मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा हो तो हो ही कैसे सकती है। स्वयं महापुरुष, जो इस तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं, इसका प्रचार एवं प्रकाश करके लोगोंके अज्ञानान्धकारका नाश करते हैं। वास्तवमें जो मान, बड़ाई, पूजा; प्रतिष्ठा एवं सत्कार आदि चाहते हैं अथवा सम्मति देकर लोगोंसे

अपनी पूजा आदि करवाते हैं, वे महामूढ़ हैं ही, किंतु जो न तो दूसरोंको अपनी पूजा करनेके लिये कहता है और न पूछनेपर सम्मति देता है, परंतु पूजा आदि मिलनेपर उसे प्रसन्न मनसे स्वीकार कर लेता है, उसका विरोध नहीं करता, वह भी मूढ़ ही है। जो पूजा मिलनेसे प्रसन्न तो नहीं होता, चाहता भी नहीं कि लोग मुझे पूजें, किंतु हृदयसे पूजा-सत्कारका विरोध नहीं करता, वह भी ज्ञान और भक्तिसे अभी बहुत दूर है।

वर्तमान समयमें असली श्रद्धा और प्रेम बहुत कम लोगोंमें देखनेको मिलता है, अधिकांश लोगोंमें श्रद्धा और प्रेमकी नकल ही देखनेको मिलती है। असली श्रद्धाका रूप बाहरी पूजा, नमस्कार, सत्कार आदि नहीं है, ये तो श्रद्धाके बाहरी रूप हैं, शिष्टाचारके अन्तर्गत हैं। ये दिखावटी भी हो सकते हैं। असली श्रद्धा तो श्रद्धेय पुरुषका हृदयसे अनुयायी बन जाना, उनकी इच्छाके—उनके मनके सर्वथा अनुकूल बन जाना है। सूत्रधार कठपुतलीको जिस प्रकार नचाता है, उसी प्रकार वह नाचने लगती है, वह सब प्रकारसे नचानेवालेपर ही निर्भर करती है। इसी प्रकार जो श्रद्धेय पुरुषके सर्वथा अनुगत हो जाता है, उसीके संकेतपर चलता है, अपने मनसे कुछ भी नहीं करता, वह सच्चा श्रद्धालु है। श्रद्धेयकी आज्ञाओंका अक्षरशः पालन करना भी ऊँची श्रद्धाका द्योतक है, परंतु श्रद्धेयको मुँहसे कुछ भी न कहना पड़े, उसके इङ्गितपर ही सब काम होने लगे, उसकी रुचिके अनुकूल सारी क्रिया होने लगे—यह और भी ऊँची श्रद्धा है।

सच्चे अनुगत पुरुषको छायाके समान व्यवहार करना चाहिये। जिस प्रकार हमारी छायामें, हमारे प्रतिबिम्बमें हमारी प्रत्येक चेष्टा अपने-आप जैसी-की-तैसी उतर आती है; उसी प्रकार श्रद्धेयका प्रत्येक आचरण, उसका प्रत्येक गुण श्रद्धालुके जीवनमें उतर आना चाहिये। इस प्रकार जो छायाकी भाँति श्रद्धेयका अनुसरण करता है, वही सच्चा शरणागत है, उसीकी श्रद्धा परम श्रद्धा है, उच्चतम कोटिकी श्रद्धा है। सच्चा श्रद्धालु श्रद्धेयके प्रतिकूल आचरण करना तो दूर रहा, अनुकूलतामें रत्तीमात्र उनकी कमीको भी सहन नहीं कर सकता। संतोंकी बाहरी पूजाका—शिष्टाचारका इतना महत्त्व नहीं है जितना भीतरसे उनके अनुकूल बन जानेका है। संतोंके अनुकूल बन जाना ही उनकी असली पूजा है।

इसी प्रकार जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे अपने प्रेमास्पदका एक क्षणके लिये भी वियोग नहीं सह सकते। वे जान-बूझकर तो अपने प्रेमास्पदका त्याग कर ही नहीं सकते, यदि प्रेमास्पद उन्हें बरबस अलग कर देता है तो विरहके कारण उनकी दशा शोचनीय हो जाती है। किसी-किसी प्रेमीकी तो प्रेमास्पदके विरहमें मृत्युतक हो जाती है, अथवा मृत्युकी-सी दशा हो जाती है, जलके अभावमें मछलीकी तरह उसके प्राण छटपटाने लगते हैं। वह यदि जीता है तो प्रेमीकी इच्छा मानकर—उसके मिलनकी आशासे ही जीता है, मनसे तो उसका प्रेमास्पदसे कभी वियोग होता ही नहीं, मन उसका निरन्तर अपने प्रियतममें ही बसा रहता है। प्राचीन इतिहासके पन्नोंको उलटनेपर श्रद्धा और प्रेमका सर्वोच्च नमूना हमें भरतजीके जीवनमें मिलता है। ननिहालसे लौटनेपर भरतजीने जब सुना कि श्रीराम वनको चले गये और उनके वनगमनका कारण मैं ही हूँ, तब वे सब कुछ छोड़कर तुरंत श्रीरामके पास वनमें गये और अयोध्या लौट चलनेके लिये उनसे प्रार्थना की। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार तो उन्होंने श्रीरामजीको यहाँतक कह दिया था कि यदि आप अयोध्या न चलेंगे तो मैं अनशन-व्रत लेकर प्राणत्याग

कर दूँगा, परंतु फिर श्रीरामकी आज्ञा मानकर, उनकी रुख देखकर वे चुप हो रहे और उनकी चरण-पादुकाओंको मस्तकपर रखकर अयोध्या लौट आये; किंतु अयोध्या लौटकर भी वे भोगोंमें लिप्त न हुए। अयोध्यासे बाहर नन्दिग्राममें रहकर उन्होंने मुनियोंका-सा जीवन व्यतीत किया और बड़ी उत्कण्ठासे वे श्रीरामके लौटनेकी प्रतीक्षा करते रहे।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि भरतजीका श्रीरामके चरणोंमें अतिशय प्रेम था तो उनसे श्रीरामका वियोग कैसे सहा गया, श्रीरामके विरहमें उन्होंने प्राण क्यों नहीं त्याग दिये, तो इसका उत्तर यह है कि भरतजी श्रीरामके निरे प्रेमी ही न थे, वे उच्चकोटिके श्रद्धालु भी थे। उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना, प्राणोंकी बाजी लगाकर भी उनकी आज्ञाका पालन करना उनके जीवनका व्रत था। उनकी इस श्रद्धाने ही उनके प्राणोंकी रक्षा की और उन्हें चौदह वर्षतक जीवित रखा। उन्हें विश्वास था कि चौदह वर्ष बीतनेपर श्रीरामसे अवश्य भेंट होगी और फिर आजीवन मैं उनके साथ रहूँगा। फिर कभी वे मुझे अलग रहनेको नहीं कहेंगे। इसी आशापर वे जीवित रहे। फिर भी उन्हें श्रीरामके वियोगका दुःख कम न था। एक-एक दिन गिनकर उन्होंने चौदह वर्ष व्यतीत किये और विरह-व्यथामें सूखकर वे अत्यन्त कृश हो गये। यही नहीं, चौदह वर्ष बीतनेके बाद यदि श्रीराम वनसे लौटनेमें कुछ भी विलम्ब करते तो उनका प्राण बचना कठिन था। इस प्रकार प्रेमीकी ऊँची-से-ऊँची अवस्था उनके अंदर व्यक्त थी। साथ ही उनमें श्रद्धा भी कम न थी। इसीलिये उन्होंने सोचा कि जब श्रीराम अपनी इच्छासे वनमें जा रहे हैं, तब उनकी इच्छाके विरुद्ध उन्हें लौटानेके लिये मुझे अतिशय आग्रह क्यों करना चाहिये। इस प्रकार अतिशय प्रेमके साथ-साथ उनमें श्रद्धा भी उच्चतम कोटिकी थी, किंतु उच्च श्रेणीके प्रेमी अपने प्रेमास्पदकी और सब बातें मानते हुए भी कभी-कभी उनके सङ्गके लिये अड़ जाते हैं। सङ्गके लिये उनका इस प्रकार आग्रह करना भी दोषयुक्त नहीं माना जाता। इससे उनकी श्रद्धामें कमी नहीं मानी जाती। सारांश यह है कि प्रेमी किसी भी हेतुसे प्रेमास्पदका त्याग नहीं करता। प्रेमास्पदका सङ्ग बना रहे, इसके लिये वह कभी-कभी अपने प्रेमास्पदकी रुचिकी भी उपेक्षा कर देता है। इसके विपरीत श्रद्धालु अपने श्रद्धेयकी रुचि रखनेके लिये उनके सङ्गका भी प्रसन्नतापूर्वक त्याग कर देता है, परंतु उनकी रुचिके प्रतिकूल कोई चेष्टा नहीं करता।

प्रेमीको प्रेमास्पदका सङ्ग छोड़नेमें मृत्युके समान कष्ट होता है और श्रद्धालुको श्रद्धेयकी रुचिके प्रतिकूल आचरण मरणके समान प्रतीत होता है। प्रेमास्पद प्रेम बढ़ानेके लिये यदि प्रेमीको कभी अलग कर देता है तो प्रेमीको उसका वियोग असह्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रद्धालुसे श्रद्धेयकी रुचिका पालन करनेमें तनिक भी कोर-कसर सहन नहीं होती। सच्चे प्रेम और श्रद्धाका यही स्वरूप है। इसपर कोई यह कह सकते हैं कि सच्चे भगवद्भक्त मान आदि तो बिल्कुल नहीं चाहते, न यह चाहते हैं कि लोग उनके चित्रकी पूजा करें, उनके नामका प्रचार हो अथवा उनकी जीवनी लिखी जाय, परंतु सभी भक्त और ज्ञानी यदि इन सब बातोंका कड़ाईके साथ विरोध करने लग जायँ तो फिर अच्छे पुरुषोंकी जीवनियाँ अथवा स्मारक संसारमें मिलने ही कठिन हो जायँगे, जिससे आगेकी पीढ़ियाँ उनसे मिलनेवाले लाभसे सदाके लिये वञ्चित हो जायँगी तो इसका उत्तर यह है कि अच्छे पुरुष इन सब बातोंका तनिक भी विचार नहीं करते। अखण्ड ब्रह्मचर्यका

व्रत धारण करनेवाला क्या कभी यह सोचता है कि मेरी देखा-देखी यदि दूसरे लोग भी स्त्री-सुखका त्याग कर देंगे तो फिर संसारका व्यवहार कैसे चलेगा, सृष्टिका कार्य ही बंद हो जायगा। ऐसा सोचनेवाला कभी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता। इसी प्रकार अच्छे पुरुष यह कभी नहीं सोचते कि यदि हम पूजा ग्रहण करना छोड़ देंगे तो संसारसे महापुरुषोंकी पूजाकी पद्धति ही उठ जायगी। संसारका व्यवहार तो सदा इसी प्रकार चलता आया है और चलता रहेगा। यदि कोई कहे कि 'अबतकके महात्माओंकी इच्छा एवं प्रेरणासे ही उनकी जीवनियाँ लिखी गयी हैं अथवा उनके स्मारकोंका निर्माण हुआ है', तो ऐसा कहना अथवा सोचना उन महात्माओंपर झूठा कलङ्क लगाना, उनपर व्यर्थका दोषारोपण करना मात्र है। महात्माओंकी बात तो अलग रही, ऊँचे साधकके मनसे भी यह वासना हट जाती है, यदि रहती है तो यह मानना चाहिये कि वह उच्चकोटिका साधक नहीं है। इस सम्बन्धमें यह निश्चित सिद्धान्त मान लेना चाहिये कि अच्छे पुरुषोंके मनमें यह वासना कभी उठती ही नहीं कि मेरे जीवनकालमें अथवा मरनेके बाद लोग मेरे शरीर या मूर्तिकी पूजा करें, मेरे नामका प्रचार हो अथवा मेरी जीवनी लिखी जाय। इस प्रकारकी इच्छाका अच्छे पुरुषोंमें अत्यन्ताभाव हो जाता है और महात्माओंका सच्चा अनुयायी एवं सच्चा श्रद्धालु वही है जो उनके भावके, उनकी इच्छाके अनुकूल अपने जीवनको बना लेता है, वही सच्चा शरणापन्न और वही सच्चा भक्त है।

आत्मज्योति

महर्षि याज्ञवल्क्यके पास बैठे हुए महाराज जनक बोले—'महर्षे! मेरे मनमें एक शङ्का है, कृपया उसका निवारण करें। हम जो कुछ देखते हैं, वह किसकी ज्योतिसे देखते हैं?' महर्षिने कहा—'यह कैसी बच्चोंकी-सी बात करते हैं आप? प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि हम जो कुछ देखते हैं, वह सूर्यकी किरण (ज्योति)के कारण देखते हैं।'

जनकने पुनः प्रश्न किया—'किंतु जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब हम किसके प्रकाशसे देखते हैं?' महर्षिने उत्तर दिया—'चन्द्रमाके प्रकाशसे।' जनकका अगला प्रश्न था—'जब सूर्य न हों, चन्द्रमा न हों, तारे-नक्षत्र न हों और अमावस्याकी बादलोंसे भरी घोर अँधेरी रात हो, तब?'

महर्षि बोले—'तब हम शब्दोंकी ज्योतिसे देखते हैं। कल्पना करें—विस्तृत वन है, घनघोर अँधेरा है। एक पथिक मार्ग भूल गया है, वह आवाज देता है—'मुझे मार्ग दिखाओ।' तब दूर खड़ा एक व्यक्ति इन शब्दोंको सुनकर कहता है—'इधर आओ, मैं मार्गमें खड़ा हूँ।' और पहला व्यक्ति शब्दोंके प्रकाशसे उस व्यक्तिके पास पहुँच जाता है।'

जनकने पूछा—'महर्षे! जब शब्द भी न हो, तब हम किसकी ज्योतिसे देखते हैं?' महर्षि बोले—'तब हम आत्माकी ज्योतिसे देखते हैं। आत्माकी ज्योतिसे ही सारे कार्य होते हैं।' 'और यह आत्मा क्या है?' राजा जनकने प्रश्न किया।

ऋषिने उत्तर दिया—**'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।'**—अर्थात् यह जो विशेष ज्ञानसे भरपूर है, जीवन और ज्योतिसे भरपूर है, जो हृदयमें जीवन है, अन्तःकरणमें ज्योति है और सारे शरीरमें विद्यमान है, वही आत्मा है।'

—राकेशचन्द्र गुप्त

महारसायन

(महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

[गताङ्क सं० ६, पृ०-संख्या ७०० से आगे]

[पञ्चम स्पन्दन]

किं तात वेदागमशास्त्रविस्तरै-
स्तीर्थैरनेकैरपि किं प्रयोजनम्।
यद्यात्मनो वाञ्छति मुक्तिकारणं
गोविन्द गोविन्द इति स्फुटं रट ॥

'तुझे वेद, आगम आदि अनेक शास्त्रोंसे या बहुत तीर्थोंसे क्या प्रयोजन है ? यदि तू अपनी मुक्तिकी इच्छा करता है, तो 'गोविन्द' 'गोविन्द' इस नामको सुस्पष्ट रट। अरे, मेरा नाम ले।

तू दिन-दिन जैसे बालक बनता जा रहा है। क्या तू मेरा नाम नहीं जानता ?

जानता हूँ, किंतु पाँच जनोंकी बातोंमें मैं कभी-कभी भूल-सा जाता हूँ और सब गड़बड़ हो जाता है। एक बार मुझे अच्छी तरहसे बता दो।

मेरा नाम प्रकृति, पुरुष, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, आत्मा, परमात्मा, कृष्ण, काली, राम, गणेश, सूर्य, अग्नि, गङ्गा, राधा, दुर्गा आदि-आदि है।

क्या, तब स्त्री, पुरुष सभी तुम हो ?

क्या, आज ही सुना है तुमने ?

नहीं, नहीं, कहो, कहो।

देख, चैतन्य और जडसे ही है यह विराट् ब्रह्माण्ड ! इस जगत्में उपासना चैतन्यकी ही होती है। चैतन्य एक ही है। कोई किसी भी नामसे क्यों न पुकारे, वह मुझे ही पुकारता है, मैं एक हूँ। सबकी पुकारका उत्तर देता हूँ।

यदि तुम एक हो, तो इतने नामोंसे क्या प्रयोजन ? एक ही नामको पुकारनेसे तो हो जाता है।

ॐ (ब्रह्म) यही मेरा एक नाम है। युगधर्मसे मनुष्योंकी धारणा-शक्ति घट गयी है। मैंने सर्वव्यापी भावकी धारणा-शक्ति न रहनेके कारण उन लोगोंके उद्धारके लिये कृष्ण, काली, राम—यह सब लीला-विग्रह धारण किये। इस लीलाका श्रवण और मनन कर, मुझमें दृढ़ भक्ति लाभकर भक्त संसार-बन्धनसे मुक्त होता है।

भिन्न-भिन्न रूप धारण करनेका क्या प्रयोजन है ?

देख, सबकी रुचि एक-सी नहीं होती। कुछ लोग मेरा वंशीधारी रूप देखना चाहते हैं। तब उन लोगोंकी प्रीतिके लिये यमुना-किनारे कदम्बतले वंशी लेकर श्यामसुन्दर बनकर 'राधा', 'राधा' कहकर वंशी-ध्वनि करता हूँ। फिर कुछ लोग युगल रूप देखना चाहते हैं। तब उन लोगोंके हेतु एक ही मैं राधा-कृष्ण बनकर उनका आनन्द बढ़ाता हूँ। कोई मुझे धनुर्धारी देखना पसंद करते हैं, उनके लिये मैंने 'राम'-रूप धारण किया है। कोई भक्त मुझे नर-मुण्ड-मालिनी, लोल-रसना, गलितवसना भीषण कालिका-मूर्ति देखना चाहते हैं। इसलिये मैं काली बनकर लीला करता हूँ और कोई मुझे बाघम्बर-धारी, नागराजधारी, त्रिपुरारि-रूपमें देखना चाहते हैं, तब मैं वही बन जाता हूँ। कोई मुझे माता कहकर संतोष प्राप्त करता है, मैं उसकी माँ बनकर उसे अङ्कमें ले लेता हूँ। कोई मुझे सखा कहकर अपने बाहु-बन्धनमें बाँधना चाहते हैं, तब मैं सखा बनकर उनके बाहु-बन्धनमें बँध जाता हूँ। कोई दास-भावसे सेवा करना चाहते हैं तो मैं प्रभु बनकर उनकी सेवा ग्रहण करता हूँ। कोई मुझे पति मानकर अपना जीवन-यौवन अर्पण करती है, तो मैं उसका जीवन-नाथ बन जाता हूँ। मुझे कोई स्वाधीनता नहीं है।

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः ॥

'मैं भक्तके अधीन हूँ। भक्त मेरे हृदयका धन है। भक्त जैसे मुझे रखता है, मैं वैसे रहता हूँ। वह मुझे जिस नामसे पुकारता है, मैं वही बन जाता हूँ।'

अहा! भक्तमें इतनी शक्ति? मुझे बताओ, मैं कैसे भक्त बन सकता हूँ। बताओ तो सही।

तभी तो कहता हूँ, नाम ले, मैंने गुरु-रूपमें जो नाम तुझे दिया है, वही नाम तू सदा ले।

फिर क्या वह नाम छोड़कर और नाम नहीं ले सकता? मुझे तो आपने गुरु-रूपमें रामनाम लेना ही सिखाया है। क्या मैं काली, कृष्ण, हरि, हर आदि नाम उच्चारण नहीं कर सकता?

हाँ, ले सकता है। हमारे रामका ही दूसरा नाम काली, कृष्ण, हरि, हर है। मेरे रामने ही काली, कृष्ण, हरि, हर बनकर लीला की है, यह समझकर तू काली, कृष्ण आदिका चरित्र श्रवण कर सकता है और नाम-गान भी कर सकता है; परंतु जबतक भाव दृढ़ नहीं होता, तबतक गुरुदत्त इष्ट नामका सदा कीर्तन करना चाहिये तथा उनका चरित्र श्रवण करना चाहिये। ऐसा करनेसे इष्टमें प्रेम दृढ़ हो जाता है, संकीर्णता मिट जाती है और भक्त स्थिर हो जाता है। तू अविराम इष्ट-नाम ले।

देखो, तुम्हें एक मजेकी बात सुनाता हूँ।

क्या सुनाओगे, सुनाओ ना।

उस दिन तुम्हारे एक वैष्णव भक्तकी कथा सुनी थी। वे तुम्हारी मूर्तिको छोड़कर अन्य किसी मूर्तिके दर्शन नहीं करते थे। उनके घरमें कालीका एक चित्र था, उसे घरसे हटाकर निश्चिन्त हो गये। देवीका प्रसादतक नहीं ग्रहण करते थे। मैं तो भक्तिहीन हूँ, इसीलिये मुझे 'मैं श्याम····मैं ही श्यामा' कहकर समझा सकते हो, किंतु उन लोगोंको नहीं। यदि तुम श्यामा बनकर उनसे कहो भी कि मैं ही श्याम हूँ, तो भी वे तुम्हें घरसे निकाल देंगे। देखो, मैं तो इस बातको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता।

क्यों! मैंने तो पहले ही बतला दिया था कि भावकी प्रतिष्ठाके लिये गुरुदत्त इष्टपर ही दृढ़ भक्ति रखनेकी आवश्यकता होती है। इष्ट-मूर्तिका दर्शन, इष्टका प्रसाद-भोजन और पादोदक पान करना चाहिये एवं भाव-राज्यमें स्थान प्राप्त करनेके लिये दिन-रात इष्ट-नाम जपना चाहिये। ऐसा करनेसे भावमय देह धारणकर मेरे साथ प्रतिक्षण क्रीड़ा कर सकोगे। हमारा यह वैष्णव-भक्त अभीतक साधन-भक्तिकी अवस्थामें रहकर बाहरी आडम्बरमें चक्कर काट रहा है। यदि मेरी मूर्तिके अतिरिक्त वह कुछ नहीं देखना चाहता तो उसे सदैव आँखें बंद करके रहना चाहिये। गृह-द्वार, आत्मीय जन, स्त्री-पुत्र, पशु-पक्षीको वह किस प्रकार देखता है? वे सब तो मैं नहीं हूँ। उन्हें दूर क्यों नहीं हटा देता? बाहरमें रखी हुई कालीकी मूर्ति दूर हटानेके पहले मन-मन्दिरमें दिन-रात नामका उज्ज्वल दीप जलाकर रखना चाहिये। तब यह सब अन्धकार नहीं रहता। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पुराणमें, सर्वत्र मैंने कहा है कि मैं एक हूँ। जो मैं रुद्र, सो ही मैं उमा, सो ही मैं विष्णु हूँ। एक देवताकी शरण लेकर जो अन्य देवताओंकी अवज्ञा करता है, उसके प्रति मैं प्रसन्न नहीं होता। फिर भी जो वैसा ही करते हैं, वे दुःख पाते हैं।

यह वे स्वयं नहीं करते। तुम्हींने तो गुरु-रूपमें सिखाया है।

हाँ, मैंने गुरु-रूपमें उपदेश दिया है कि अन्य देवताके भावसे और पूजा नहीं करनी चाहिये, प्रसाद नहीं ग्रहण करना चाहिये। सभी मेरे इष्ट हैं, यह विश्वास दृढ़ रखना चाहिये। वे लोग ऐसा नहीं कर

पाते। काली-नाम सुनते ही वैष्णव भाग खड़ा होता है और शाक्त वैष्णवका उपहास करता है।

नमोऽस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये
सहस्रपादाक्षिशिरोरुबाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटीयुगधारिणे नमः ॥

—यह कहकर अथवा '**सर्वस्वरूपे सर्वेशे सर्वशक्तिसमन्विते**' कहकर प्रणाम भी करता है। देख, एकपर ही विश्वास न रखनेके कारण यह दुर्गति है। गुरु-रूपमें जप करनेके लिये कहा है, सो वे करते नहीं, इसीलिये उनका अज्ञान नहीं मिटता। उन लोगोंका हाथ फेरना समाप्त नहीं होता, वे आजन्म 'क, ख' ही लिखते रहते हैं।

मेरी आज्ञा पूर्णरूपसे पालन करनी चाहिये। अपने इच्छानुसार थोड़ा-बहुत पालन करनेसे दुःख-निवृत्ति नहीं होती। तुझे दूसरोंसे क्या प्रयोजन ! तू नाम ले, नाम ले, जबतक स्थिर नहीं हो पाता, तबतक नाम ले। तेरे पैरोंके नीचेसे पृथ्वी खिसक जाय, सिरपर आकाश टूट पड़े, किंवा सर्वनाश ही क्यों न हो जाय, किसी ओर न देखकर दिन-रात नाम ले। यह निश्चित जान, तू मेरी गोदमें है, मैं तुझे छातीसे लगाकर रक्षा कर रहा हूँ, नाम ले।

हे नाथ ! मैं शरणागत हूँ, मैं निराश्रय हूँ, मैं तुम्हारा हूँ, मैं तुम्हारा ही हूँ।

हरे मुरारे मधुकैटभारे
गोपाल गोविन्द मुकुन्द शौरे ।
यज्ञेश नारायण कृष्ण विष्णो
निराश्रयं मां जगदीश रक्ष ॥

'**मा भैः !**' मुझमें सम्भव-असम्भवकी कुछ भी कल्पना न कर। मैं मृणाल-तन्तुसे हाथी बाँध सकता हूँ, गोपदमें पर्वत निमज्जित कर सकता हूँ। मेरी गतिका निर्णय कर सके, ऐसी शक्ति किसीमें भी नहीं है। संसार-चिन्ता, अर्थ-चिन्ता, देह-चिन्ता और ऋण-चिन्ताका त्याग कर। मैंने उसकी व्यवस्था कर दी है। मैं तेरा हूँ, पुकार, मुझे पुकार। सब ज्वालाएँ दूर होंगी।

मा भैः ! मा भैः !! मा भैः !!!

ललित लुनाई

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

ललित ललनकी ललित लुनाई।
ललित मुकुट अरु ललित लकुट अति, ललित मुरलिका अधर सुहाई ॥
ललित-ललित स्वर-लहरी लहरत, ललित पीत-पटकी छवि छाई ।
ललित ललाट ललित लट सोहत, ललित-ललित अधरन मुसिकाई ॥
चितवन चारु चतुर-चित-चोरनि, ललित भृकुटि बिच तिलक सुहाई ।
कुण्डल-झलक ललित गण्डन पै, ललित माधुरी कही न जाई ॥
गल बनमाल ललित लालनके, ललित कौस्तुभ-मणि झलकाई ।
कर कंकन अति ललित, उदर वर त्रिवलीकी अति सुघर लुनाई ॥
ललित-ललित नूपुर-धुनि सुनि-सुनि मुनियनने समाधि बिसराई ।
ललित चलन अरु ललित नटन पै बरियाई मन बलि बलि जाई ॥
ललित ललनकी ललित माधुरी काको चित्त न चोरत माई !
धन्य-धन्य वे जीव जगतमें जिनके हिय यह नव-छवि छाई ॥

वेणुगीत

(नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क पृ०-सं० ८७९ से आगे]

शुकदेवजीने जैसा कहा, जो उनकी आँखोंमें आया, वह **'नटवर-वपु'** अर्थात् नटवर या नटवरके समान है। यह सब तो इनकी समझमें कुछ आया नहीं कि ये नटवर हैं या नटवरके समान हैं। उन्होंने सोचा तीनों लोकोंमें क्या कोई ऐसा नटवर है, जिसे उपमान बनाया जा सके और श्रीकृष्णके शरीरको उपमेय बनाया जाय। संसारमें कहनेमें आता है कि इसका मुख चन्द्रमाके समान है। इसकी गम्भीरता समुद्रके समान है। इसका बल सिंहके समान है। ये जितने प्रकारके उपमान संसारमें प्रचलित हैं, उनसे यह मालूम होता है कि चन्द्रमा, समुद्र आदि उपमान एवं मुख आदि उपमेय हैं। उपमान-उपमेयके वर्णनमें ऐसा देखा जाता है कि उपमेयकी अपेक्षा उपमान श्रेष्ठ होता है। सिंहके समान इसका बल है—इसका अर्थ है कि सिंह श्रेष्ठ है। चन्द्रमाके समान उसका मुख है तो चन्द्रमा उपमान है, मुख उपमेय है। इस उदाहरणसे मुखकी अपेक्षा चन्द्रमाकी श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई। इसी भाँति नटवरके समान इनका वपु है, इससे यह स्वतः सिद्ध हुआ कि कोई नटवर ऐसा संसारमें होगा, जिस नटवरसे इनकी उपमा दी जाय तो वह नटवर श्रीकृष्ण-की अपेक्षा अधिक सुन्दर सिद्ध हो गया, किंतु सच्ची बात तो यह है कि श्रीकृष्णका स्वभावसिद्ध जो सौन्दर्य-माधुर्य है, उससे बढ़कर सौन्दर्य-माधुर्यकी कल्पना जगत्में कहीं हुई नहीं, मिली नहीं, होगी भी नहीं। ऐसी अवस्थामें किसी दूसरे नटवरके समान उपमान बनाकर श्रीशुकदेवजीने कहा हो, देखा हो, सो बात नहीं, यहाँ तो श्रीकृष्ण ही नटवर हैं। ये ही उपमान हैं और ये ही उपमेय। यहाँ उपमेयकी अपेक्षा उपमान श्रेष्ठ है, ऐसा नहीं है। यहाँ उपमानकी अपेक्षा उपमेय ही श्रेष्ठ है। यदि ऐसा न मानें तो श्रीकृष्णका जो सौन्दर्य-माधुर्य है, उनकी जो कलाएँ हैं, चेष्टाएँ हैं, ये सब दूसरेके द्वारा आस्वादन की हुई जूठी हो जाती हैं, बासी हो जाती हैं। श्रीकृष्णका, ब्रह्मका, भगवान्‌का सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान जो कुछ भी है, ये सारा-का-सारा जूठन नहीं है; अपितु इसीकी जूठन सारे संसारको मिलती है। संसारमें जितना भी सौन्दर्य-माधुर्य है, ज्ञान है, ऐश्वर्य है, बल है, यह सारा-का-सारा उसी सन्निधिका योगमात्र है। वह न उपमेय है, न उपमान।

श्रीकृष्णकी अनुरागवती श्रीगोपाङ्गनाओंने श्रीकृष्णकी मूर्तिको देखकर अन्तमें यही सोचा कि बस यही उपमेय है। फिर उनके मनमें एक बात और आयी कि यह कल्पना हमारे मनमें कैसे आयी ? हम तो जानतीं नहीं कि जगत्में कोई और नटवर है। जगत्में दूसरा कोई है भी, इसका हमें कुछ पता नहीं। किसी अनजान नटवरकी कल्पना भी हम कैसे करें। जगत्में कोई भी इनके सिवा नटवर है ही नहीं। एकमात्र ये ही हैं। गोपियोंकी आँखोंमें श्रीकृष्णके सिवा और कुछ है ही नहीं। वे कहने लगीं बस, बस यही नटवर है। जहाँतक दृष्टि जा पाती है वहाँतकका सभी सौन्दर्य—सब कुछ इनका ही है। नखाग्रसे लेकर केशाग्रतक जहाँ दृष्टि जाय, सभी सौन्दर्य-माधुर्य मानो स्वयं यहाँ कीर्तिमान् हो रहा है। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग, वस्त्र-आभूषण, चेष्टा सभी सुन्दर हैं, सभी नटवर हैं। नटवर-वपुका अर्थ यह हुआ कि यहाँपर इनका सब कुछ नट बन रहा है। सब कुछ नटवर है, नट है।

यह जो वर्णन है, वह किसी दूसरे नटवरके समान नहीं है। ये स्वयं नटवरके समान नहीं हैं। ये स्वयं नटवर-वपु हैं और इसी नटवर-वपुसे वनभूमिमें प्रवेश कर रहे हैं। गोपाङ्गनाओंको ऐसा प्रतीत हुआ कि इन नटवरके पैर ही नहीं नाचते, नटवर-वपु हैं तो इनका सारा-का-सारा जो कुछ भी है, मानो सब कुछ नृत्य-परायण है, नाच रहा है।

उन्होंने देखा कि वे सारी नृत्य-कलाओंको मात कर देनेवाले हैं। शिवजीके ताण्डव तथा औरोंके अनेक नृत्य हैं। पर कभी किसीने सुना कि साँपके फणोंपर कोई नाचता है? साँपके फणोंपर नृत्य किया इन्होंने। किसीने कभी देखी है ऐसी नृत्यकी भंगिमा। कहीं अस्त-व्यस्तता नहीं। ठीक-ठीक नृत्य हो रहा है। पर सर्पपर नृत्य, हजारों विषपूर्ण फणोंपर नाचनेवाला नृत्य। यह सकल नृत्यकला-विनिन्दित नृत्य है इनका। ऐसी ही स्वाभाविक है इनकी गरुड़-भंगिमा। वे नाचते हुए नटवर-वपु हैं। पैर चलते हैं नाचते हुए, ऐसा दीख रहा है। चरणोंमें नूपुर मानों रिमझिम-रिमझिम ध्वनि करते हुए पैरोंके साथ नाच रहे हैं। फिर देखा कि वे पीत वस्त्र पहने हुए हैं और नाचते हुए चल रहे हैं। वे पवनके वेगसे झूम रहे हैं, संचारित हो रहे हैं तथा पीत वसन भी नाच रहा है। मुरलीके छिद्रोंपर उँगलियाँ पड़ रही हैं, वे भी नाच रही हैं। अंगुली भी नृत्य-परायण है और मणियुक्त जो नासाग्र है वह भी वायुके द्वारा हिल रहा है। इस समय वे नाचते हुए चल रहे हैं न, इसलिये गजमुक्ता भी नाच रहा है। खंजनके जोड़ेको भी मात करनेवाले जो इनके नेत्रयुगल हैं, वे भी नाना भंगिमाओंमें नृत्य कर रहे हैं। नेत्रोंके संचालनसे जो दोनों भृकुटियाँ हैं, वे भी इधर-उधर नाच रही हैं। गमनके वेगसे उनके कानोंके देदीप्यमान मकराकृत कुण्डल भी नाच रहे हैं। लम्बे-लम्बे घुँघराले काले केश हैं। वायुके संचालनके साथ वह केशराशि भी नाच रही है। सारे केश नृत्य-परायण हैं। कुन्तलराशिके जूड़ापर बँधा हुआ मनोहर पंख भी नाच-नाचकर सबको मोहित कर रहा है। इस प्रकार उनके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग नाच रहे हैं। नटवर-वपु हैं न अर्थात् कोई भी नाचके बिना बाकी नहीं। इनकी नृत्य-भंगिमाको देखकर जो गायोंके रखवाले इनके साथी-संगी हैं वे भी नाच रहे हैं। सभी गोपबालक भी नाच रहे हैं। सबको नाचते देखा तो गायोंके पैर भी नाचने लगे। इस प्रकार गायें नाचती हुई चलने लगीं। इनके नृत्यने वनभूमिको नृत्यमय बना दिया, वंशी-रवकी तालपर पशु-पक्षी भी नाचने लगे। वृक्षकी शाखाएँ हिल-हिलकर स्वागत करती हुई नाचने लगीं। सब लताएँ-बेलें भी उस समय पवनसे आन्दोलित होकर नृत्य करने लगीं। यमुनामें विशेष तरंगें उठने लगीं। यमुनाकी तरंगें भी नाचने लगीं। यहाँतक कि जिन्होंने इस नृत्यको देखा, सुना, गाया, वे सब नाचने लगे। गोपाङ्गनाएँ भी नाचने लगीं। यह जो सारे जगत्‌को आनन्दमें नचा देनेवाला सौन्दर्य-माधुर्य है, वही तो वास्तवमें नटवर-वपु है।

सारा जगत् नाच रहा है। आगपर पड़नेसे कष्टके मारे जैसे कोई नाच उठे, वैसे ही हमलोगोंका—जगत्‌के प्राणियोंका नृत्य है। मायामोहित विषय-वासनासे विदग्ध जीव तो जन्म-मरणके डरके मारे नाच रहे हैं। हमारा नाचना अस्त-व्यस्त नाचना है। यह भोगासक्ति-का नाचना है। यह नाचना दूसरे प्रकारका है। यहाँ जो नृत्य है वह दिव्य मधुमय नृत्य है। यह नृत्य जगत्‌-को भुलाकर, जगत्‌के अन्धकारको मिटाकर, जगत्‌की ज्वालाको बुझाकर केवल और केवल नित्य आनन्दमय है। जगत्‌के प्रलोभनोंसे ग्रस्त नृत्यपरायण प्राणियोंकी तुलना

नटवरके दिव्य नृत्यसे कैसे की जाय । ये तो अनुपम नटवरशेखर हैं । इनका अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही नटवर है । ये नटवर-वपु हैं । सारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग, आभूषण, संगी-साथी, प्रकृति-वनचर, सब-के-सब भूत––जल, आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी––ये सब-के-सब इनके साथ नाच रहे हैं; क्योंकि ये नटवर-वपु हैं ।

नटवर-वपु श्रीश्यामसुन्दरने वन-गमन-कालमें कर्णिकारके पुष्पोंको कानोंमें धारण किया है आभूषणके रूपमें । यह था उनके अनुपमेय कैशोर-माधुर्यका उल्लास और उनमें नवीन-नवीन विचित्र-विचित्र श्रृंगारिक भावोंका उद्दीपन । श्रीकृष्णके कानोंमें सुशोभित इन कनेरके फूलोंको सभीने देखा होगा––ये पीले रंगके होते हैं । सूर्यमुखी फूलकी तरहके इन कर्णिकारके फूलोंको श्रीकृष्ण कानोंमें क्यों धारण करते हैं ? वे एक ही फूलको लेकर कभी इस कानमें लगाते हैं तो कभी उस कानमें । वे ऐसा क्यों करते हैं ? सूर्यमुखी फूलकी तरह कनेरके पुष्प भी ज्यों-ज्यों सूर्य उत्तरावर्ती-दक्षिणावर्ती होते हैं, त्यों-त्यों ये भी सूर्यके मुखकी ओर हो जाते हैं । जब सूर्य अस्त होता है, तब वे बिल्कुल पश्चिमाभिमुख हो जाते हैं तथा सूर्यास्तके साथ-साथ ये भी मुँद जाते हैं ।

रसानन्दचूड़ामणि, रसराज, परमप्रेम-स्वरूप, श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेमके भी मूर्तिमान् घन-स्वरूप श्रीकृष्ण कर्णिकारके एक पुष्पको लेकर कभी इस कानमें तो कभी उस कानमें लगाते हैं । इसका एक मुख्य कारण है श्रीगोपाङ्गनाओंके प्रेमका समादर करना । इसमें एक ही फूलको बार-बार इधर-उधर लगानेमें इनके कैशोरका प्राकट्य होता है । श्यामसुन्दर जब वनको जाते, तब गोपाङ्गनाएँ अपने-अपने घरोंकी छतपर खड़ी हो जातीं । कुछ अपने-अपने दरवाजोंपर भी खड़ी रहतीं और जहाँतक श्यामसुन्दर दीख पड़ते वहाँतक उन्हें खड़ी देखती रहतीं । इसके पश्चात् अपने-अपने कोठोंके ऊपर चली जातीं । घरवालोंसे कह-सुनकर गोपाङ्गनाओंने श्रीकृष्णको देखनेके लिये ही घरोंमें ऊँची छतें बनवा ली थीं । वे ऊपर जाकर खड़ी हो जातीं और दूर-दूरतक––सुदूरतक श्रीकृष्णके सौन्दर्यको देखा करतीं । इधर वे वन-भूमिमें प्रवेश कर रहे हैं और उधर कोठोंपर, अट्टालिकाओंपर खड़ी हैं श्रीगोपाङ्गनाएँ । वनका रास्ता सीधा तो है नहीं, यह उल्टा-सीधा, दाहिने-बायें पलटता रहता है । अट्टालिकाओंपर, महलोंपर, महलोंकी छतोंपर व्रजाङ्गनाएँ खड़ी हैं । जैसे सूर्य तो ऊपर रहता है और कनेरका पुष्प नीचे । सूर्यकी ओर देखकर कनेर-पुष्प उसी दिशाकी ओर ही अपना मुख कर लेता है । इसी प्रकार श्रीश्यामसुन्दर भी जिस ओर अट्टालिकाओं एवं महलोंके गवाक्ष पड़ते हैं, इनके ध्यानमें सब है––उसी ओर वे फूल लगा लेते हैं । जैसे सूर्यको देखकर उसी ओर कर्णिकारका पुष्प अपना मुख कर लेता है, उसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाओंके मुखकी ओर वे भी कर्णिकारके फूलका मुख कर देते हैं और अपने कानपर लगा लेते हैं । ये गोपाङ्गनाएँ आँख लगा देती हैं और ये कान लगा देते हैं । व्रजनारियोंकी प्रगाढ़ प्रीति, अनन्य-उच्चतम परम-दिव्य, कामना-वासना-शून्य, अनुपम प्रेमका एक निदर्शन है यह कनेरका पुष्प, इसीलिये गाढ़ प्रीतिका ज्ञापन करनेके लिये, गाढ़ प्रीति-रसका आस्वादन करनेके लिये स्वयं श्रीकृष्ण इन कनेरके फूलोंका श्रृंगार करते हैं ।

––क्रमशः
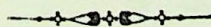
उनकी क्रीडा

(पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं
सृष्ट्वा गुणान् विभजते तदनुप्रविष्टः ।
तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥*

यह जगत् प्रभुकी क्रीडास्थली है । इसमें वे नाना रूपोंसे नाना भाँतिकी क्रीडाएँ करते हैं । सृष्टिके आदिमें जब कुछ नहीं था, तब उन्होंने अपनी कमलके समान बड़ी-बड़ी आँखोंसे चारों ओर देखा । सर्वत्र शान्ति थी, सर्वत्र शून्यका साम्राज्य था, वे सोते-सोते ऊब गये थे । योगनिद्रासे भी उन्हें थकान-सी मालूम पड़ने लगी । अब उन्हें खेलकी इच्छा हुई । स्वतस्तृप्त आत्मारामपको भी इच्छा, यह कैसी विपरीत बात है ? यही तो बात है । वे ही अनुकूल, प्रतिकूल सबके जनक हैं । उनके लिये न कोई कर्तव्य है, न अकर्तव्य । उनके लिये सभी अनुकूल हैं और सभी प्रतिकूल ।

देखते-ही-देखते खेलका साज-सामान बनने लगा; क्योंकि क्रीडा एकाकमें नहीं होती । खेलनेके लिये अनेक चाहिये । वह एकसे अनेक हो गया । उसने अपने बहुत-से रूप बना लिये, वही क्रीडाका साज-सामान बन गया । उसीने खेलनेवालोंके अनेक रूप धारण कर लिये । बस, खेल आरम्भ हो गया ।

दार्शनिकोंने उसमें अनेक तर्क लगाये । वैज्ञानिकोंने उसमें सूक्ष्मताका अन्वेषण किया । विद्वानोंने उसकी क्रीडाके ऊपर अनेकों शास्त्र बनाये । वह हँसता रहा, मुसकराता रहा, कुछ बोला नहीं । उसने इच्छा की, आकाश बन गया । उसमें वायु चलने लगी, प्रकाश हो गया । गरमी लगने लगी, जल बन गया । गीला हो गया, पृथ्वी बन गयी— यही तो क्रीडाक्षेत्रोंमें होता है । अजी ! पहले प्रकाश क्यों आया ? चाँदनी ही पहले क्यों तानी गयी ? छिड़काव बादमें क्यों हुआ ? इसीपर लोग माथापच्ची करते हैं, करें । खिलाड़ीको ये प्रश्न व्यर्थ-से लगते हैं, उसे इनसे कोई प्रयोजन नहीं ।

खेलनेवालेने रखी हुई गेंद स्वाभाविक उठा ली है । अपना दुपट्टा उठाकर ओढ़ लिया, टोपी लगा ली, जूती पहन ली, खेलनेको चल दिया । उसके सब काम स्वाभाविक हैं, किंतु विवेचना करनेवाले उसीपर तर्क करते हैं । पहले दुपट्टा बायें हाथसे ही क्यों उठाया ? टोपी तनिक टेढ़ी क्यों लगायी ? लगाकर चार कदम बायीं ओर क्यों चला ? बस, ये ही प्रश्न इतने जटिल बन जाते हैं कि लोग इन्हींपर मस्तिष्क खपाते रहते हैं । अरे ! यह तो स्वभाव है, क्रीडा करनेवालेकी इच्छा है ।

इस जगत्को हम भगवान्‌की क्रीडाभूमि और समस्त प्रपञ्चको उनके खेलका साज-सामान मान लें तो न फिर कोई झंझट है, न वाद-विवाद है । भगवान् अनेक तरहसे खेल रहे हैं । उनकी क्रीडामें न कोई सम्भव है, न असम्भव । आज लोग गर्व करते हैं—हमने इंजन बनाया, तार बनाये, हम यह कर देते हैं, वह कर देते हैं, मैं कहता हूँ—तुम पृथ्वीका एक कण बना सकते हो ? जलकी एक बूँद बना सकते हो ? विद्युत्‌की एक किरण तैयार कर सकते हो ? वायुका एक श्वास उत्पन्न कर सकते हो ? नहीं, तो सब व्यर्थ है । मायामें क्या सम्भव, क्या असम्भव ? सभी सम्भव हैं, सभी असम्भव हैं ।

* जो अपनी अचिन्त्यगति मायासे इस संसारको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो जाते हैं तथा कर्म और कर्मफलका विभाग करते हैं तथा जिनकी अगम्य लीलाएँ, जिनके चित्र-विचित्र खेल, इस संसाररूपी चक्रकी गतिका प्रधान हेतु हैं, उन परमेश्वरको नमस्कार है ।

वे हरि खेल रहे हैं। आदिशक्ति महामायाके साथ वे स्वयं नाचते हैं। महामाया ताली बजाकर उन्हें नचा रही है।

नाचे नँदलाल नचावै वाकी मैया।

वे स्वयं नाचते हैं और चराचर प्रकृतिके साथ क्रीडा करते हैं। कभी स्वयं बैठ जाते हैं—सबको नचाते हैं।

सबहिं नचावत राम गुसाईं। बँध्यो कीर मर्कट की नाईं॥

नाचना-नचाना, गाना-गवाना—इसीका नाम रास है। यह रास अनादिकालसे हो रहा है, अनन्तकालतक होता रहेगा। इसका न आदि है, न अन्त, न मध्य, न अवसान। चल रहा है, चलता रहा है, चलता रहेगा। हम सब उसीकी प्रेरणासे कर्म कर रहे हैं, क्रीडा कर रहे हैं। क्रीडा सुखके लिये होती है—आनन्दके लिये होती है। हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं—खेलमें हमें सभी वस्तुएँ प्रसन्न करनेके लिये ही होती हैं। विदूषक आकर हँसीकी बातें करता है, हमें प्रसन्नता होती है, हम हँसने लगते हैं। फिर एक नायिका आकर रोती है, तड़फड़ाती है, मूर्तिमयी करुणाका रूप दिखाकर दर्शकोंको रुला देती है। सबकी आँखोंसे आँसू बहने लगते हैं। फिर भी हम आनन्दसे उछल पड़ते हैं, वाह-वाह! बड़ा सुन्दर अभिनय किया। कमाल कर दिया, आज तो बड़ा आनन्द आया। कभी किसीका सिर कटता है, हम ताली बजा देते हैं। किसीपर विपत्ति आती है, हम उत्सुक होकर उसका परिणाम देखने लगते हैं। सारांश यही है कि नाटकमें जो भी हो—सभीमें हमें सुख है, सभीमें आनन्द है। दुःख तभी होता है, जब पात्र अपना अभिनय तत्परतासे नहीं करते। इसी तरह यह जगत् तो आनन्दकी जगह है। खेलनेका स्थान है, रंगस्थली है, क्रीडाका क्षेत्र है, इसमें जो दुःखी होते हैं, चिन्तित होते हैं, व्यग्र बने रहते हैं, उन्होंने अपनेको ही कर्ता मान रखा है, वे स्वयं इस नाटकके दर्शक न बनकर अपनेको सूत्रधार समझे बैठे हैं। अरे! सूत्रधार तो वे ही हरि हैं। वे जो भी कुछ करते हैं, जिससे जो भी कुछ करा रहे हैं, सब वे ही करा रहे हैं। तुम उनकी क्रीडामेंसे अपनापन हटा लो, अपनेको सूत्रधारके सिंहासनसे हटाकर दर्शकोंकी श्रेणीमें कर लो। तब तुम्हें नाटकका असली सुख मिलेगा।

सूत्रधार तो नाटकका निर्माता है। उसके लिये न कोई हर्षकी बात है न विस्मयकी। उसीने तो नाटकका निर्माण किया है। वह उसका आदि, मध्य, अन्त—सब जानता है। तुम उसकी बराबरी मत करो, नहीं तो दुःखी होगे। तुम तुम्हीं हो, वह वही है। तुम खेल देखो, आनन्द करो, सुखी रहो या उसकी इच्छासे तुम भी खेल करने लगो। बस, आनन्द-ही-आनन्द है, सुख-ही-सुख है। खेलको खेल ही समझो, जहाँ इसमें सत्यकी भावना हुई कि तुम दुःखी और अशान्त हुए। सूत्रधार ही सत्य है, शेष सब तो उसीका निर्माण किया हुआ खेल है। उसमें न सत्यता है, न असत्यता, सत्यता तो है ही नहीं; क्योंकि वह बनता-बिगड़ता रहता है। असत्यता भी कहें तो कैसे कहें; क्योंकि सत्यस्वरूपकी बनायी सभी वस्तुएँ सत्य हैं, सत्यसे असत्यका निर्माण हो नहीं सकता। अतः तुम इसकी सत्यता-असत्यताके झमेलेमें पड़ो ही नहीं। इसे तो सूत्रधारपर छोड़ दो। तुम तो खेलको खेल समझो और सदा ठहाका मारकर हँसते रहो। खूब हँसो, हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाओ। जोरसे हँसो, कहकहा मारकर हँसो, हँसते-हँसते पेटमें बल पड़ जाय, आँखोंमें आँसू आ जाय। खुलकर हँसो, लज्जा-संकोच छोड़कर हँसो, हँसनेमें भय मत करो। अरे! हँसना, खेलना—यही तो क्रीडामें आनन्द है, यही तो मजा है। हँसे बिना खेल कैसा? भगवान् हँसकर ही तो जीवोंको फँसा लेते हैं! 'हासो जनोन्मादकरी च माया'—यही तो उनका जादू है। अतः

जगत्‌में आकर जो रोया, वह हतभागी है, कर्महीन है। अरे! रोना क्यों? रोवे वह, जिसकी नानी मर जाय। हमें तो हँसना है, हमारी नानी—महामाया आद्याशक्ति तो कभी मरती नहीं, वह तो अमर है। हमारे परम पिता भी उसके साथ खेलते हैं, फिर हमें रोनेसे क्या काम?

अच्छा यदि रोना ही है तो हँसते-हँसते रोओ, कबीरकी तरह रोओ! कबीरने गाया है—'**कबीर हँसना दूर कर रोनेसे कर प्रीत**' उनका रोना नानी मरनेका रोना नहीं है। नाटकमें करुणाका रोना है, वह तो हँसीके लिये ही है, सुखके लिये ही है। अतः मनमें कभी म्लानता न लाओ। इस क्रीडाको देखकर हँसो और ऐसे हँसो कि हँसते-हँसते ही विदा हो।

आप कहेंगे—जो क्रीडा कर रहे हैं, वे सभीको दिखायी तो देते नहीं। यह कैसी क्रीडा है? वाहजी, वाह! यह भी खूब प्रश्न किया। नाटककार तो छिपा ही रहता है, सूत्रधार रंगमञ्चपर कभी ही आता है। वह तो छिपकर समस्त नाटकका संचालन कर रहा है। यह कबड्डीका खेल नहीं है, आँख-मिचौनीका खेल है। श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ खेल कर रहे हैं, 'दाम! तू भी आ, सुदाम! तू भी आ जा', सभी मिल जाते हैं। 'सब आँखें बंद कर लो, मैं वृन्दावनकी कुञ्जोंमें छिप जाता हूँ। तुम सब मुझे ढूँढना।' यह कहकर वृन्दावनचन्द्र वहीं पासकी निकुञ्जमें छिप गया। कोस-दो-कोस—सौ-दो-सौ गज वे नहीं गये। पासमें, बिल्कुल पासमें—जहाँसे सबका ढूँढ़ना देख सकें, वे छिप गये। अब सखा उन्हें ढूँढ रहे हैं—कोई गहवरवन जाता है तो कोई भाण्डीरवन, कोई बेलवन तो कोई तमालवन। सब भटक रहे हैं, सब दौड़ रहे हैं। सूर्य-चन्द्रकी तरह चक्कर लगा रहे हैं। किसलिये—अपने प्यारेको खोजनेके लिये। क्यों खोज रहे हैं? क्या प्रयोजन है? अरे! प्रयोजन क्या! खेल है, आँख-मिचौनीकी लीला है, वह तो छिपकर ही बन सकती है। स्वयं छिप गये हैं, सखा उन्हें ढूँढ रहे हैं। कोई पूर्व जाता है, कोई पश्चिमकी परिक्रमा करता है, कोई उत्तरके तीर्थोंमें भटकता है, कोई दक्षिणके वन-उपवनोंमें खोज रहा है। श्यामसुन्दर समीप ही छिपे-छिपे हँस रहे हैं। किसी चतुर सखाकी दृष्टि पड़ गयी, उसने जाकर पल्ला पकड़ लिया, क्यों जी! यहाँ छिपे बैठे हो? तब वह मुँहपर उँगली रखकर कहता है—'हरे! चुप, बस, तू भी मेरे पास आ जा।' उसके लिये खेल समाप्त हो जाता है। उस सखाका दौड़ना-धूपना, घूमना, खोजना, चक्कर लगाना बंद हो जाता है। वह भी हँसता-हँसता दूसरोंको देखता है।

एक छोटा सखा है, नन्हा-सा बच्चा है, बहुत दौड़ नहीं सकता। प्रत्येक निकुञ्जमें जा नहीं सकता; क्योंकि वृन्दावनकी कुञ्जें कटीली हैं और जमीन कँकरीली है। छोटा सखा एकदम शिशु है। वह रो पड़ता है, 'श्यामसुन्दर! अब मैं तुम्हें स्वयं न खोज सकूँगा। तुम्हीं मेरे पास आ जाओ।' तब वह हँसता हुआ, मुसकराता हुआ दौड़कर आकर अपनी नन्हीं-नन्हीं कोमल उँगलियोंसे उसकी आँखें बंद कर लेता है। 'अये! घबराता क्यों है? रोता क्यों है, मेरे यार! मैं कहीं दूर थोड़े ही गया हूँ।' '**मुझको क्या ढूँढ़े बंदे! मैं तो तेरे पासमें!**' तब दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं, खेल समाप्त हो जाता है।

इसी तरह जगत्‌में यह आँखमिचौनीका खेल हो रहा है। खेलको खेल समझनेमें ही सुख है, कल्याण है। यदि अपने पुरुषार्थसे तुम कन्हैयाको ढूँढ़ सको तो भी खेल समाप्त हो जायगा। स्वयं पता न लगा सको तो जिसने पता लगा लिया है, उसीके बताये मार्गपर चले जाओ या आर्त होकर उसे पुकारो, वह स्वयं दौड़ा आयेगा। उसका भी छिपनेमें कोई अन्य प्रयोजन नहीं, वह भी क्रीडा ही कर रहा है, विनोदके लिये ही छिपा है, उसे इसीमें आनन्द है।

जिस प्रकार हमारे प्रभुको खेल प्रिय है, उसी तरह हम सब भी खेलको पसंद करते हैं। पिताके गुण पुत्रमें आने ही चाहिये। आज सभी लोग खेल ही तो कर रहे हैं। कोई घर बना रहा है। कोई युद्ध कर रहा है। कोई पढ़ने जा रहा है। कोई व्यापार कर रहा है। कोई एक दूसरेको प्यार कर रहा है, एक दूसरेके लिये तड़प रहा है। बच्चोंके खेलमें भी तो यही सब होता है। बच्चेका एक मिट्टीका खिलौना फोड़ दीजिये—रोते-रोते घरभरको उठा देगा, घरभरमें आफत मचा देगा। उसके लिये वह क्लेश उतना ही बड़ा है, जितना एक सम्राट्को राज्य नष्ट होनेपर होता है। बात दोनों एक ही हैं। साम्राज्य भी खिलौना है। मिट्टीका खिलौना भी खिलौना है। बच्चेको एक छोटा-सा सुन्दर खिलौना लाकर दे दीजिये। इतना प्रसन्न होगा, जितना एक गरीब भूमण्डलका राज्य पानेपर प्रसन्न हो सकता है। दोनों ही बच्चे हैं, दोनों ही नादान हैं, दोनों ही खिलौनोंसे सुखी होनेवाले हैं, दोनों ही खिलौने मायिक तथा नाशवान् हैं। हम बच्चोंके खेलको देखकर उसकी हँसी उड़ाते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं; किंतु स्वयं नहीं समझते कि हम भी उसी तरहके बच्चे हैं। हम भी तो खेल ही कर रहे हैं।

यह जगत् त्रिगुणात्मक है। इसकी तीन धाराएँ सनातन हैं, तीनों ही उन्हींकी हैं। तीनोंमें वे ही खेल रहें हैं। जो सात्त्विक प्रकृतिके लोग हैं, वे भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और एकान्तवासमें रहकर खेलते हैं, उन्हें संसारी पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं। शरीर-निर्वाहके लिये कुछ चाहिये। उनकी लड़ाई किसी लौकिक पदार्थके लिये नहीं है। वे आत्मसुखमें रमण करनेके लिये आत्माका आलोचन-प्रत्यालोचन करते हैं। जो राजस प्रकृतिके हैं, उन्हें सांसारिक ऐश्वर्य चाहिये। उसका राज्य हमें मिले, वह शासन ठीक नहीं करता, इसका प्रबन्ध जन-मतके अनुकूल हो, वह शासक कमजोर है, उसे हटाकर दूसरा शासक बनाओ—इस प्रकार उनका सुख धन, ऐश्वर्य और विभूतिके उपभोगमें है। जो तामस प्रकृतिके हैं, उन्हें विषयोंमें ही सुख है। यही उनका ध्येय है। वहाँसे लूट, यहाँसे चोरी कर, उसे मार, यह भोग कर, वह ला—बस, इसीमें दस्युधर्मका पालन करते हुए संसारी भोग-पदार्थोंमें ही लिप्त रहना—उनका सुख भौतिक सुख है।

इसी तरह यह जगत् त्रिगुणात्मक है, तीनों गुणोंके संयोगसे यह चल रहा है। सभा-सम्मेलनोंमें यही सब होता है। तामस प्रकृतिके लोग इकट्ठे होकर मांस, मद्य, व्यभिचार, चोरी, जुआके षडयन्त्र रचते हैं। सब परस्परमें इकट्ठे होकर इन्हींके लिये वाद-विवाद तथा कलह करते हैं। उनके सम्मिलनका सार यही है। राजस प्रकृतिके लोग मिलकर राजनीतिक मन्त्रणाएँ, राजस मनोरञ्जन तथा राजनीतिक व्याख्यान करते हैं। सात्त्विक प्रकृतिके लोग भजन, कीर्तन, सत्सङ्ग, कथावार्ता, यज्ञ-याग आदिके महोत्सव करके उन्हींमें सुखकी खोज करते हैं।

कुछ लोग दम्भके लिये, कुछ मान-प्रतिष्ठाके लिये, कुछ लोग द्वेषसे, ईर्ष्यासे भी करते हैं। यह भावोंका संकर है। कहीं कोई गुण बढ़ता है, कहीं कोई घटता है। हम कुछ भी खेल करें, यदि हमारा लक्ष्य परमार्थ है, यदि श्रीहरि हमारे खेलके ध्येय हैं तो वह खेल यथार्थ खेल है। यदि प्रभुका स्थान इन मायिक पदार्थोंने ले लिया है तो हम खेल-ही-खेलमें भटक गये हैं। भगवान्का नाम-कीर्तन, गुण-कीर्तन, लीला-कीर्तन यही सच्चा खेल है। इससे छिपे हुए भगवान् प्रकट हो जाते हैं और यह संसार हमें विस्मृत-सा हो जाता है। जबतक जगत् सत्य प्रतीत होता है, तबतक भगवान् नहीं दिखायी देते। जब भगवान् दीख जाते हैं, तब यह जगत् अपने-आप अदृश्य हो जाता है। इन मायिक

पदार्थोंके बिना—किसी प्रकारके नशा, अमल या मादक द्रव्यके बिना जहाँ भगवन्नाम-गुण-लीला-कीर्तन सुनते-सुनते हमें आत्मविस्मृति हो जाय, वही प्रभुका सच्चा खेल है। जो जीव कुछ कालके लिये भी उसमें सम्मिलित हो जाता है, वह उतने समयके लिये सांसारिक त्रिविध तापोंसे मुक्त हो जाता है। उसे एक अलौकिक आनन्दका अनुभव होने लगता है।

जहाँ मनुष्योंको अहंकृति न हो या कम-से-कम हो, वहाँ प्रभुकी प्रत्यक्ष लीला दिखायी देती है। उस कार्यमें जो भी जाता है, वह अपनेको एक अलौकिक छायामें स्थित अनुभव करता है। काम सभी एक-से हैं, सभीमें प्रपञ्चकी छाया है, सभीमें वे ही पञ्चभूतोंके पदार्थ हैं। वे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशके बने खिलौने हैं, किंतु उनमें भाव ही प्रधान है। जहाँ जितनी ही कम अहंकृति होगी, वहाँ उतना ही अधिक रस होगा। सुदामाके तन्दुलोंमें क्या था, अपनेपनका अभाव। मेरा यह उपहार कुछ नहीं है। प्रभुने कहा—'नहीं सब कुछ है।' दुर्योधनके यहाँ किस वस्तुकी कमी थी, कितने पदार्थ थे, किंतु उसमें अहंकृति थी। इतने आडम्बरसे सजाये हुएको भी प्रभुने ठुकरा दिया। सबके घट-घटकी बात वे प्रभु जानते हैं।

समस्त उत्सव, समस्त लीला, समस्त कार्योंका ध्येय यही है कि हम इन लौकिक पदार्थोंसे ऊपर उठकर प्रभुकी ओर बढ़ सकें। यदि इन महोत्सवोंमें हमें निरन्तर भगवत्-स्मृति होती रहती है, प्रत्येक काममें भगवान्‌का वरद हस्त दिखायी देता है, तब तो इन सबका करना सार्थक है। नहीं तो जैसे और कार्य, वैसे ही यह कार्य। सबका मूल भगवत्-स्मृति है, समस्त क्रीडाके आदि, मध्य और अन्तमें हमें प्रभु-ही-प्रभु दिखायी दें तो हमें शोक, मोह—कुछ भी बाधा न दे सकेंगे। यदि हम भगवान्‌को भूलकर विषयोंमें आसक्त हो गये तब तो उनकी मायामें भूल गये।

यह जो कुछ दिखायी दे रहा है, यह त्रिगुणात्मक जगत् सब उनकी लीला है, सब उनका खेल है, हम सब उनकी प्रेरणासे उनके आदेशसे उन्हें खोज रहे हैं। जगत्‌के माने ही है जो चलता-फिरता रहे। यह चलना किसलिये है? अपने प्रियतमकी खोजके लिये, अपने जीवन-सर्वस्वसे मिलनेके लिये। जगत्‌के यावत् पदार्थ हैं, सब चल रहे हैं अनन्तकी ओर। किसी-न-किसी दिन भूलते-भटकते सब उसीके समीप पहुँचेंगे। सबका प्रयत्न उसीके लिये है। जानमें, अनजानमें—सब उसी महासागरसे मिलने दौड़ रहे हैं।

इस क्रीडाको क्रीडा समझना ही उनकी ओर तेजीसे बढ़ना है। इसमें सत्यका समावेश करना ही उनसे दूर भटकना है। इसलिये मेरे प्यारे बन्धुओ! आओ और उस अनादि-अनन्तकी खोज करो। हँसते-हँसते किलकारियाँ मारते हुए उन्हें खोजो। न खोज सको तो उनके लिये रोओ, आर्त होकर पुकारो। वे श्यामसुन्दर तुम्हें अपनी छातीसे चिपका लेंगे और फिर तुम प्रत्यक्षमें उनका दर्शन-स्पर्श प्राप्त कर सकोगे। श्रीकृष्ण ही नटनागर नट हैं। जगत् ही उनकी क्रीडास्थलीका रंगमञ्च है। चराचर जगत्‌के जीव ही उनके क्रीडापात्र हैं। जगत्‌के यावन्मात्र व्यापार ही उनके क्रीडा-प्रसंग हैं। वे उसमें अन्तर्यामीरूपसे, गुरुरूपसे, आचार्यरूपसे, प्रतिभारूपसे, कभी-कभी प्रत्यक्षरूपसे भी प्रकट होकर खेलते हैं, फिर छिप जाते हैं। उनकी क्रीडाकी ओर दृष्टि देनेमें ही कल्याण है, नहीं तो अकल्याण-ही-अकल्याण है। इसीलिये भगवान्‌ने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है—

तस्माद् देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः॥

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[विश्वास और जिज्ञासा]

मनुष्य अपनी ओर नहीं देखता कि मेरा जन्म क्यों हुआ है, मुझे क्या करना चाहिये और मैं क्या कर रहा हूँ ? जबतक वह उसपर ध्यान नहीं देता, तबतक उस मनुष्यका पद आप क्षमा करेंगे, पशुसे भी नीचा है ! पशु, पक्षी, वृक्ष आदिसे भी उसका जीवन नीचा है ! मनुष्य होकर भी सावधानी नहीं है तो क्या मनुष्य हुआ ? मनुष्यमें तो यह सावधानी, यह विचार होना ही चाहिये कि हमारा जन्म क्यों हुआ है और हमें क्या करना चाहिये तथा क्या नहीं करना चाहिये। स्वयं इसका समाधान न हो तो न सही, पर संतोंकी वाणीसे, शास्त्रोंसे इसका पूरा समाधान हो जायगा कि यह मनुष्य-जन्म केवल अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है। भगवान्ने अपनी ओरसे यह अन्तिम जन्म दे दिया है, जिससे यह मुझे प्राप्त कर ले।

ब्रह्माजीने यज्ञोंके सहित प्रजाकी उत्पत्ति की—'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता ३ । १०) अर्थात् कर्तव्य और कर्ता—ये दोनों एक साथ पैदा हुए। जो कर्तव्य है, वह सहज है। आज जो हमें कर्तव्य-कर्म करनेमें परिश्रम प्रतीत होता है, उसका कारण यह है कि हम संसारसे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, नहीं तो यह स्वयं भी सहज है और इसका जो कर्तव्य है, वह भी सहज है, स्वाभाविक है। अस्वाभाविकताको यह स्वयं बना लेता है। इसे यह विचार नहीं होता कि अस्वाभाविकता कहाँ बना ली ? कैसे बना ली ? यदि विचार करे तो यह निहाल हो जाय !

अब एक बात बताते हैं। दो मार्ग हैं—एक विश्वासका मार्ग और एक जिज्ञासाका मार्ग। विश्वास वहाँ होता है, जहाँ संदेह नहीं होता, संदेह पैदा ही नहीं होता। जो संदेहयुक्त विश्वास होता है, वह विश्वास-रूपसे प्रकट नहीं होता; परंतु जिज्ञासा वहाँ होती है, जहाँ संदेह होता है। भक्तिमार्गमें विश्वास, निःसंदिग्धता मुख्य है और ज्ञानमार्गमें जिज्ञासा, संदेह मुख्य है। विश्वास और जिज्ञासा—इन दोनोंको मिलानेसे साधकका जीवन शुद्ध नहीं रहता, अशुद्ध हो जाता है।

विश्वास किसमें होता है ? जिसमें हम इन्द्रियोंसे, अन्तःकरणसे कुछ नहीं जानते, उसमें विश्वास होता है अथवा नहीं होता। जैसे, 'भगवान् हैं'—यह विश्वास होता है अथवा नहीं होता—ये दो ही बातें होती हैं। भगवान् हैं कि नहीं—यह बात वास्तवमें विश्वासीकी नहीं है, जिज्ञासुकी है। हैं कि नहीं—यह संदेह जीवात्मापर होता है अथवा संसारपर होता है। कारण कि 'मैं हूँ' इसमें तो संदेह नहीं है, पर 'मैं क्या हूँ' इसमें संदेह होता है। अतः संदेह-सहित जो सत्ता है, उसमें जिज्ञासा पैदा होती है। स्वयंका और संसारका ज्ञान जिज्ञासासे होता है। परमात्माको मानना अथवा न मानना—इसमें आप बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। कारण कि परमात्माके विषयमें हम कुछ नहीं जानते और जिस विषयमें कुछ नहीं जानते, उसमें केवल विश्वास चलता है। जिसमें विश्वास होता है, उसमें संदेह नहीं रहता—इतनी विचित्र बात है यह ! जैसे स्त्री, पुत्र आदिको अपना मान लेनेसे फिर उसमें यह संदेह नहीं रहता कि यह स्त्री मेरी है कि नहीं ? यह बेटा मेरा है कि नहीं ? यह लौकिक

मान्यता टिकती नहीं; क्योंकि यह मान्यता जिसकी है, वह नाशवान् है, परंतु परमात्मा अविनाशी है; अतः उसकी मान्यता टिक जाती है; दृढ़ हो जाती है तो उसकी प्राप्ति हो जाती है। हमने संतोंसे यह बात सुनी है कि जो भगवान्‌को मान लेता है, उसे अपना स्वरूप जना देनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर आ जाती है! कितनी विलक्षण बात है! भगवान् कैसे हैं, कैसे नहीं—इसका ज्ञान उसे स्वयं नहीं करना पड़ता। वह तो केवल मान लेता है कि 'भगवान् हैं'। वे कैसे हैं, कैसे नहीं—यह संदेह उसे होता ही नहीं।

पहले केवल भगवान्‌की सत्ता स्वीकार हो जाय कि 'भगवान् हैं', फिर भगवान्‌में विश्वास हो जाता है। संसारका विश्वास टिकता नहीं; क्योंकि हमें इस बातका ज्ञान है कि वस्तु, व्यक्ति आदि पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और अब भी निरन्तर नाशकी ओर जा रहे हैं; परंतु भगवान्‌के विषयमें ऐसा नहीं होता; क्योंकि शास्त्रोंसे, संतोंसे, आस्तिकोंसे हम सुनते हैं कि भगवान् पहले भी थे, पीछे भी रहेंगे और अब भी हैं। भगवान्‌पर विश्वास बैठनेपर फिर उनमें अपनत्व हो जाता है कि 'भगवान् हमारे हैं'। जीवात्मा भगवान्‌का अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५ । ७); अतः भगवान् हमारे हुए। इसलिये आस्तिक भाववालोंको यह दृढ़तासे मान लेना चाहिये कि भगवान् हैं और हमारे हैं। ऐसी दृढ़ मान्यता होनेपर फिर भगवान्‌से मिले बिना रहा नहीं जा सकता। जैसे, बालक दुःख पाता है तो उसके मनमें माँसे मिलनेकी इच्छा होती है कि माँ मुझे गोदीमें क्यों नहीं लेती? उसके मनमें यह बात पैदा ही नहीं होती कि मैं योग्य हूँ कि अयोग्य हूँ, पात्र हूँ कि अपात्र हूँ।

जैसे भगवान्‌पर विश्वास होता है, ऐसे ही भगवान्‌के सम्बन्धपर भी विश्वास होता है किन् भगवाहमारे हैं। भगवान् कैसे हैं? मैं कैसा हूँ—यह बात वहाँ नहीं होती। भगवान् मेरे हैं; अतः मुझे अवश्य मिलेंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास कर ले। यह 'मेरा'-पन बड़े-बड़े साधनोंसे ऊँचा है। त्याग, तपस्या, व्रत, उपवास, तितिक्षा आदि जितने भी साधन हैं, उन सबसे ऊँचा साधन है—भगवान्‌में अपनापन। अपनेपनमें कोई विकल्प नहीं होता। करनेवाले तो करनेके अनुसार फलको प्राप्त करेंगे, पर भगवान्‌को अपना माननेवाले मुफ्तमें पूर्ण भगवान्‌को प्राप्त करेंगे। करनेवाले जितना-जितना करेंगे, उनको उतना-उतना ही फल मिलेगा, परंतु भगवान्‌में अपनापन होनेसे भगवान्‌पर पूर्ण अधिकार मिलेगा। जैसे, बालक माँपर अपना पूरा अधिकार मानता है कि माँ मेरी है, मैं माँसे चाहे जो काम करा लूँगा, उससे चाहे जो वस्तु ले लूँगा। बालकके पास बल क्या है? रो देना—यही बल है। निर्बल-से-निर्बल आदमीके पास रोना ही बल है। रोनेमें क्या जोर लगाना पड़े? बच्चा रोने लग जाय तो माँको उसका कहना मानना पड़ता है। इसी तरह रोने लग जाय कि भगवान् मेरे हैं तो फिर दर्शन क्यों नही देते? मुझसे मिलते क्यों नहीं? भीतरमें ऐसी जलन पैदा हो जाय, ऐसी उत्कण्ठा हो जाय कि भगवान् मिलते क्यों नहीं! इस जलनमें, उत्कण्ठामें इतनी शक्ति है कि अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं; कोई भी दोष नहीं रहता, निर्दोषता हो जाती है। जो भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जाता है, उसकी निर्दोषता स्वतः हो जाती है। व्याकुलताकी अग्निमें पाप-ताप जितना शीघ्र नष्ट होते हैं, उतना शीघ्र जिज्ञासामें नहीं होते। जिज्ञासा बढ़ते-बढ़ते जब वह जिज्ञासुरूपसे हो जाती है अर्थात् जिज्ञासु नहीं रहता, केवल जिज्ञासा रह जाती है, तब उसकी सर्वथा निर्दोषता हो जाती है और वह तत्त्वको प्राप्त हो जाता है।

जबतक 'मैं जिज्ञासु हूँ'—यह मैं-पन रहता है, तबतक जिज्ञास्य तत्त्व प्रकट नहीं होता। जब यह मैं-पन नहीं रहता, तब जिज्ञास्य तत्त्व प्रकट हो जाता है। चाहे जिज्ञासा हो, चाहे विश्वास हो—दोनोंमेंसे कोई एक भी दृढ़ हो जायगा तो तत्त्व प्रकट हो जायगा। कर्तव्यका पालन स्वतः हो जायगा; जिज्ञासुसे भी कर्तव्यका पालन होगा और विश्वासीसे भी कर्तव्यका पालन होगा। दोनों ही अपने कर्तव्य-कर्मका तत्परतासे पालन करेंगे।

विश्वासी मनुष्य कर्तव्यकी दृष्टिसे कर्तव्यका पालन नहीं करता; परंतु भगवान्‌के वियोगमें रोता है। रोनेमें ही उसका कर्तव्य पूरा हो जाता है। उसमें केवल भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा रहती है। केवल भगवान्-ही-भगवान् याद रहते हैं। भगवान्‌के सिवा और कोई वस्तु सुहाती नहीं—**'अब कुछ भी नहीं सुहावे, एक तू ही मन भावे।'** दिनमें भूख नहीं लगती, रातमें नींद नहीं आती, बार-बार व्याकुलता होती है—**'दिन नहिं भूख रैन नहिं निद्रा, छिन छिन व्याकुल होत हिया।'** व्याकुलतामें बहुत विलक्षण शक्ति है। यह जो भजन-स्मरण करना है, त्याग-तपस्या करना है, तीर्थ-उपवास आदि करना है, ये सभी अच्छे हैं, परंतु ये धीरे-धीरे पापोंका नाश करते हैं और व्याकुलता होनेपर आग लग जाती है, जिसमें सब पाप-ताप भस्म हो जाते हैं।

प्रश्न—ऐसी व्याकुलता कैसे पैदा हो?

उत्तर—संसारके संयोगका सुख न लें। जैसे प्राण चलता रहता है तो चलनेमें परिश्रम होनेसे भूख-प्यास स्वतः पैदा होते हैं; परंतु दिनभर तरह-तरहके पदार्थ खाते रहेंगे तो असली भूख नहीं लगेगी। दूसरा खाना बंद करें, केवल भोजनके सिवाय कुछ न खाएँ तो भूख लग जायगी, तेज हो जायगी। ऐसे ही केवल भगवान्‌को चाहें, उनके सिवाय और कुछ न चाहें। सुख, मान, बड़ाई, आदर, आराम, आलस्य आदि किसी प्रकारकी इच्छा न हो। किसी भी वस्तुसे सुख न लें। भूख लगे तो रोटी खा लेनी है, नींद आये तो सो जाना है, पर उसमें सुख नहीं लेना है। ऐसा परहेज रखें तो व्याकुलता पैदा हो जायगी।

जीव कुछ-न-कुछ असत्‌का आधार बना लेता है, जिससे वह सत्‌से विमुख हो जाता है। अतः असत्‌का उपयोग कर लें, भोजन कर लें, जल पी लें, सो जायँ, सब काम कर लें, पर भीतर इनका आधार, विश्वास, आश्रय मत रखें, फिर व्याकुलता पैदा हो जायगी।

हम सबको इस बातका प्रत्यक्ष ज्ञान है कि शरीर रहनेवाला नहीं है, सम्पत्ति रहनेवाली नहीं है, कुटुम्ब रहनेवाला नहीं है, यह जो कुछ दीखता है, यह सब रहनेवाला नहीं है। ऐसा जानते हुए भी इस ज्ञानका निरादर करते हैं—यह बड़ा भारी अवगुण है, बड़ी भारी भूल है। यदि इस ज्ञानका आदर करें तो संसारकी इच्छा मिट जायगी; क्योंकि जो वस्तु स्थिर है ही नहीं, उसकी क्या इच्छा करे? **'का माँगू कछु थिर न रहाई। देखत नैन चल्यो जग जाई॥'** संसारकी इच्छा मिटते ही भगवान्‌का विरह आ जाता है। संसारकी इच्छा, आशा ही भगवान्‌के विरहको रोकनेवाली वस्तु है।

मनुष्य जिसे नाशवान् जानता है, फिर भी उसकी आशा रखता है तो यह बहुत बड़ा अपराध करता है। झूठ-कपट करके, जालसाजी, बेईमानी करके अपनी असत् भावनाको दृढ़ करता है, तो इससे बढ़कर अनर्थ क्या होगा? धन है, बेटा-पोता है, बल है, विद्या है, योग्यता है, पद है, अधिकार है, ये कितने दिनसे हैं? कितने दिन रहेंगे? इनसे कितने दिन काम चलायेंगे? इनके साथ जितने दिन संयोग है, उसका वियोग होनेवाला है। वह वियोग शीघ्र हो, देरीसे हो, कब हो,

कब नहीं हो—इसका पता नहीं, पर संयोगका वियोग होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। जिनका वियोग हो जायगा, उनपर विश्वास कैसे ? जो प्रतिक्षण बिछुड़ रहा है, उसे कबतक निभायेंगे ? वह कबतक सहारा देगा ? वह कबतक आपके काम आयेगा ? फिर भी उसपर विश्वास करना अपनी जानकारीका स्वयं निरादर करना है। अपनी जानकारीका अनादर करना बहुत बड़ा अपराध है। अपराध पापोंसे भी तेज होता है। जो 'परमात्मा है'—इसे मानता नहीं और 'संसार है'—इसे मानता है, वह महान् हत्यारा है, पापी है।

आप जानते हैं कि संसार नहीं रहेगा, शरीर नहीं रहेगा, फिर भी चाहते हैं कि इतना सुख ले लें, इतना लाभ ले लें, इस वस्तुको ले लें अर्थात् जानते हुए भी मानते नहीं ! इसमें अनजानपनेका दोष नहीं है, न माननेका दोष है, जो आपको स्वयं दूर करना पड़ेगा। जानकारीकी कमी होगी तो जानकार लोग बता देंगे, शास्त्र बता देंगे, संत-महात्मा बता देंगे, भगवान् बता देंगे, पर जाने हुएको आप नहीं मानेंगे तो इसमें दूसरा कुछ नहीं कर सकेगा। मानना तो आपको ही पड़ेगा, इतना काम आपका स्वयंका है।

उसने क्या कहा ?

(लेखक—श्रीईश्वरचन्द्रजी तिवारी)

आज मैंने उसे गाँवके बाहर पाकड़के वृक्षके नीचे पड़े देखा। गुदड़ी उसके सिरके नीचे थी और फटी पगनियाँ बगलमें। मेरी जिज्ञासा स्फुरित हुई। केवल कुतूहलवश ही मैं उसकी ओर चल पड़ा। यों तो वह किसीको अपने पास आते देखकर उठकर चल देता था, परंतु आज वह शान्त था। मैं उसके समीप पहुँच गया।

वह कोढ़ी थोड़े-थोड़े समयके अन्तरसे अपना सारा शरीर खुजलाने लगता, उसके शरीरकी तीव्र दुर्गन्ध बरबस मेरी नासिकामें प्रवेश कर जाती। मेरी आँखें उसकी गुदड़ीपरके चिल्लुओंको देखनेमें व्यस्त थीं। मेरे वहाँ जानेसे उसके सहज कार्य-क्रममें तनिक भी बाधा नहीं आयी। वह एक ईंटके टुकड़ेसे खेल रहा था। केवल शरीरपर भिनभिनानेवाली मक्खियाँ बीच-बीचमें उसके शरीरको एकबारगी ही हिला देती थीं।

मैंने उसके मुखपर एक अनोखी शान्ति और आभा देखी। यद्यपि उसके कपड़ोंकी दुर्गन्धसे नाक फटी जाती थी, परंतु फिर भी न मालूम किसने मुझे बैठ जानेके लिये प्रेरित किया और मैं बैठ गया। मैं उसका परिचय पूछनेवाला ही था कि वह हँसा और उसने मेरी ओर दृष्टि फेरी। वैसे तो मैं सभी फकीरों और भिखमंगोंके पीछे कुत्ते लगा दिया करता था, इसमें मुझे मजा भी आता था, परंतु आज मैं उस कोढ़ीके सामने करबद्ध बैठा था। मुखसे बोलनेकी चेष्टा करनेपर भी कोई शब्द न निकला। मेरा मस्तक कुछ झुक गया—आँखोंकी पलकें नीची हो गयीं।

वह उसी प्रकार पड़ा रहा। मैं भी आरामसे बैठ गया। 'देखो' वह बोला, 'परमात्मा कितना दयालु है ?' और ईंटके ढेलेको चकरीकी भाँति घुमाने लगा। मैं सुन रहा था। उसने फिर कहा—'उससे जो कोई कुछ चाहता है, उसे वह सब कुछ दे डालता है।' वह मुझे समझाता गया—'चाहना—अर्थात् प्रार्थना करना, इसका अर्थ है—निवेदन—आत्म-निवेदन। सब प्रकारसे उसका बन जाना। यही है परमात्माको पानेका अति सुगम सर्वश्रेष्ठ साधन।

'जब तुम प्रार्थना करते हो, तब भूल जाते हो कि क्या करें। परमात्मासे माँगने लगते हो—और माँगते भी हो वहाँ वह वस्तु, जिसे माँगते तुम्हें लज्जा आनी चाहिये। जरा सोचो तो, यदि तुम किसी चक्रवर्ती राजाके दरबारमें कभी पहुँचो और उससे एक सड़ी वस्तु—कूड़े-करकटकी याचना करो तो यह उसका उपहास करना ही तो होगा ? वह तो महान् शक्तिशाली है, तुम्हें पलभरमें निहाल कर सकता है।

'पर जब तुम सबसे बड़े दरबार—परमेश्वरके दरबारमें प्रवेश करते हो, तब वहाँ उसके राज्यकी हीन वस्तुएँ कंचन, वैभव आदि विषय ही क्यों माँगते हो ? क्या तुम उसकी दृष्टिमें इतने हीन हो ? अथवा क्या तुम्हारी अत्यधिक दीनता और संतोष तुम्हें उसका पुत्र माननेका अधिकारी नहीं समझते ?

'परमेश्वरसे माँगो मत कुछ भी। तुम्हारी कमीज फटनेके पूर्व और जूते जीर्ण होनेके पहले ही पिताजी तुम्हें ये वस्तुएँ ला देंगे। वे कभी नहीं देख सकते कि उनका लाड़ला आज्ञाकारी पुत्र कभी नंगा अथवा भूखा रहे। तुम्हें जन्म देनेवाला तुम्हारी आवश्यकताओंको उनके उत्पन्न होनेके पूर्व ही जानता है, तुम्हें बतलानेकी आवश्यकता नहीं।

'अपनी बिखरी शक्ति बटोर लो—फिर तो परमेश्वर तुम्हें अपने दरबारका मन्त्री चुन लेंगे। माँगो मत। शीशमकी लकड़ीको तुम कभी चूल्हेमें नही पाओगे। इस मायाके संसारमें कौन है वहीं, जो तुम्हें उच्च पद प्रदान करेगा ? तुम्हें कोई खोदकर धन-राशि देनेवाला नहीं है। 'लो बाबा ! यह गठरी ले जाओ'—ऐसा कोई न कहेगा। यहाँ सभी अपने-अपने कार्योंमें व्यस्त हैं। तुम्हें स्वयं यह खुदाई अपने-आप करनी होगी। चिल्लाओ मत, हल्ला न करो। इससे कुछ न होगा। स्लाटमें खोटी इकन्नी डालनेसे टिकट नहीं निकल सकता। ध्यान देनेकी बात है—यदि सुबह-शाम ग्रामोफोनमें चाभी दे दी जाय और रेकार्ड बजता रहे—'प्रभो ! हे भगवन् ! हे दीनदयालो ! सर्वजगत्-रक्षक ! मेरी विनती सुनो। मैं तुम्हें कितनी देरसे पुकार रहा हूँ, तुम सुनते नहीं, क्या कभी न सुनोगे ? तुमने लाखों तारे हैं। हमें भी तार दो····आदि-आदि' तो इससे क्या होगा ? ग्रामोफोन स्वयं अपना अथवा संसारका कौन-सा कल्याण कर सकेगा ? यह उसकी आत्मा बोलती है अथवा शरीर !

'तुम भूल जाते हो, गानेका यन्त्रमात्र न बनो। प्रार्थना करो—द्रवित हृदयसे। स्वयं परमात्मामें घुस जाओ, वहाँसे खोद लाओ जितना दामनमें उठा सको। हाथ फैलानेकी क्या आवश्यकता ? जितना घुसोगे, उतना ही श्याम-रंगमें रँग जाओगे।

'कुएँमें पानी भरने जाओ तो अध-बीचहीसे गगरी न खींच लो। फिर एक प्रश्न यह और है—गगरी भरनी है या स्वच्छ जल चाहिये तो स्वच्छ जलके लिये धैर्यपूर्वक कुएँमें रस्सी डालकर गगरी खींचनी होगी। गगरी तो बरसाती गढ़ेसे भी भरी जा सकती है।

'प्रार्थना आलसियोंकी पुकार नहीं है। वह तो भगवत्-परायण भक्तोंका स्वभाव है।'

इतना कहकर उसने मेरी ओर मुख फेरा और प्रश्न किया—'क्या तुम प्रतिदिन प्रार्थना करते हो ?' मैंने लज्जाग्रस्त हो कहा—'नहीं'। उसने फिर मुझसे बड़े मधुर भावसे पूछा, 'क्यों भाई ?'

मैंने उत्तर दिया—'करना तो चाहता हूँ, परंतु लज्जा लगती है कि कहीं कोई देख लेगा तो क्या कहेगा।' 'अभीसे बुढ़ापा आ गया' कहकर लोग मुझे तंग करेंगे।' मेरी बात सुनकर साधुको बड़ी हँसी आयी। तीन-चार मिनटतक वह लगातार हँसता ही रहा। फिर बोला—

'यह तो ऐसी शङ्का है जैसी कि एक सती नारीको हो सकती है कि····'

मैंने बात काटकर पूछा—'कैसी ?' 'कि उसे कोई अपने पतिके पास देख लेगा तो क्या कहेगा ! दोषी मन सदा शङ्काशील रहता है।' वह फिर हँस पड़ा और उसके शरीरकी मक्खियाँ हवामें मँडराने लगीं।

'मेरे नवयुवक।' उसने कहा—'तुम्हें बतलाया गया है कि तुम क्लर्क होगे, रुपये कमाओगे और घरका पालन करोगे। यदि तुम भूल जाते कि तुम केवल रुपया पैदा करनेकी मशीन हो और यह भी ध्यानमें रखते कि अन्य रुपया पैदा करनेवाली मशीनोंका कुछ भी प्रभाव तुमपर न पड़ेगा, तो तुम एक बड़ी निधिके मालिक हो सकते थे और तुम्हें यह शङ्का भी न होती, परंतु अच्छा, जाओ; अब भी चेष्टा करो। अभी कुछ नहीं बिगड़ा है।'

मैंने उसे प्रणाम किया और अपने मकानकी ओर चला आया। बादमें उस साधुको खोजनेका प्रयत्न किया, परंतु सब व्यर्थ।

मानसमें अभिमान-वर्णन—कारण और निवारण

(लेखक—डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

अभिमान मनुष्यकी दूषित वृत्ति है, जिससे अन्य दुर्विकार जन्म लेते हैं। यह ज्ञान-अज्ञान, हर्ष-विषादकी तरह जीवका स्वाभाविक धर्म है। संसारमें ऐसा कोई नहीं, जिसे अभिमानने अछूता छोड़ा हो। इसकी गणना दुर्गुण या हेय गुणके रूपमें की जाती है और इसीलिये यह एक मानस-रोग है। जिस प्रकार नस या गाँठका रोगी पीड़ासे संत्रस्त हो जाता है, उसी प्रकार यह अहंकाररूपी मानस-रोग निरन्तर पीड़ित करता रहता है। इस घातक रोगसे अपने-आपको सुरक्षित रखनेके लिये बुद्धिमान् लोग प्रयत्नरत रहते हैं।

इस अभिमानके कई नाम एवं रूप हैं। सूक्ष्मावलोकन करनेपर इनमें भले अलग-अलग अर्थ दिखायी दें, किंतु जो सामान्य अर्थ ध्वनित होता है, उसके अनुसार यह आश्रयको मिथ्या या अतिरंजित आत्मश्रेष्ठताका अनुभव करानेवाला ऐसा भाव है, जो दीनता, खिन्नता, विवशता एवं नतमस्तकताकी स्थितिमें प्रफुल्लताका संचार करता है। वस्तुतः अभिमानसे अहंको तुष्टि मिलती है। रामचरितमानसमें अभिमान एवं उसके सभी समानार्थी शब्द इसी आशयके साथ प्रयुक्त हुए हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने अभिमानके घातक प्रभावकी ओर संकेत किया है। पहले ही कहा जा चुका है कि यह मानस-रोगकी भाँति यन्त्रणाकारी है। यह संसृतिमूल, शूलप्रद एवं सकल शोकदायक है। मानसकारके मतानुसार यह तम एवं मोहका मूल है (५। २३। ५)। जिस प्रकार अन्धकारके गर्भमें मनुष्यकी क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है, उसकी उन्नतिकी सम्भावना धूमिल हो जाती है, उसी प्रकार अभिमान मनुष्यके उन्नति-द्वारको बंद कर देता है। यह मायाका ऐसा योद्धा है, जो जीवको मायाके वश होनेके लिये बाध्य कर देता है।

रावण, दक्ष प्रजापति, नारद, बाली, सम्पाती, इन्द्र आदि मानसके ऐसे पात्र हैं, जो विभिन्न कारणोंसे अभिमानके वशीभूत हुए हैं। इनमेंसे रावण ऐसा पात्र है, जिसके हृदयसे अभिमानका निवारण नहीं हो सका। अन्य पात्रोंके हृदयमें अभिमानका उदय एवं विलय—दोनों

हुए हैं। इन पात्रोंकी अभिमान-गाथाका विश्लेषण करने-पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अभिमानके विविध उत्पादक कारण हैं तथा उन कारणोंका निवारण ज्ञान, भक्ति या हृदय-परिवर्तनद्वारा ही सम्भाव्य है। कभी अभिमान किसीके हृदयमें इतनी गहराईमें पैठ जाता है कि उसे नष्ट ही नहीं किया जा सकता। उस स्थितिमें समाज-कल्याणके परिप्रेक्ष्यमें अभिमानीको प्राण-दण्ड देना भी आवश्यक हो जाता है; क्योंकि ऐसे लोग लोक-पीडक हो जाते हैं। श्रीरामने रावणका वध कर परोक्ष-रूपसे लोकाराधन ही किया है। रावण दूसरोंको कष्ट पहुँचानेमें अतिशय आह्लादित होता था। अभिमानसे प्रेरित होकर जब वह कुकृत्य करता था, तब उसपर उसे तनिक भी पश्चात्ताप नहीं होता था। कुम्भकर्णके पूछनेपर उसने सीतापहरणकी बात साभिमान सुनायी (मानस ६। ६२। ६)। कुम्भकर्णने अपने अग्रजको अभिमान त्यागनेकी शिक्षा दी (वही ६। ६३। ६)। मन्दोदरी भी जब समझाकर थक गयी, तब उसने तो यही समझ लिया कि वह कालका वशवर्ती हो गया है (६। ८। ६)। हनुमान्‌ने उसे परामर्श दिया कि यदि मोहवश या नृपाभिमानके कारण सीताको हर लाये हो तो उसका मोचन भी हो सकता है (५। २०। ६से८। २०। ६ तक)। शुक नामक दूतने भी उससे अभिमान त्यागनेका आग्रह किया था। फिर भी रावण अभिमानसे इतना उद्वेलित था कि उसने किसीकी भी शिक्षाकी परवा नहीं की, यहाँतक कि युद्धस्थलमें भी अपनी आसन्नमृत्युको देखते हुए भी वह अभिमान-प्रदर्शनमें नहीं चूका—

दसमुख देखि सिरन्ह कै बाढ़ी। बिसरा मरन भई रिस गाढ़ी॥
गर्जेउ मूढ़ महा अभिमानी। धायेउ दसहु सरासन तानी॥

दक्ष प्रजापति इसी अभिमानके कारण पतनोन्मुख हुए। एक बार वे ब्रह्माद्वारा प्रजापतियोंके नायक बना दिये गये। फलतः उनके मनमें अभिमानका उदय हुआ—

बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमान हृदयँ तब आवा॥

—अतिशय अभिमानके कारण दक्षने अपने जामाता शंकरका अपमान किया। अपने द्वारा आयोजित यज्ञमें सभी देवोंको सम्मानित किया, किंतु शंकरका तिरस्कार किया, जिससे उनकी पुत्री सतीने आत्मदाह कर लिया। शंकरको जब इसकी जानकारी हुई, तब उन्होंने अपने गणोंको भेजकर यज्ञका विध्वंस करा दिया और इस प्रकार दक्ष प्रजापतिके दर्पका दलन हुआ।

बालीको अपने बाहुबलका बड़ा अभिमान था। अभिमानातिरेकके कारण वह किसीके सत्परामर्शपर भी ध्यान नहीं देता था। यहाँतक कि उसने अपनी पत्नीकी रायकी भी अवहेलना की थी, जिसकी निन्दा करते हुए श्रीरामने कहा था—

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥

श्रीरामके बलपर सुग्रीवने बालीको जब द्वन्द्व-युद्धके लिये ललकारा, तब बाली इस अभिमानके साथ युद्धोन्मुख हुआ कि सुग्रीव तो उसके समक्ष तुच्छ और नगण्य है। अन्तमें श्रीरामके सान्निध्यमें उसमें सात्त्विकता जाग्रत् हुई तथा मरणासन्न-स्थितिमें उसे आत्मदोषका बोध हुआ। उसने यह अनुभव किया कि मुझे अभिमानी समझकर ही श्रीराम शरीर रखनेका मुझसे आग्रह कर रहे हैं—

मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखि सरीरहीं॥
(मानस ३। १०। ४)

शरीर-बलका ऐसा ही अभिमान सम्पातीको हुआ था। एक बार सम्पाती और जटायु दोनों भाई सूर्यका सामीप्य प्राप्त करनेका लक्ष्य लेकर उड़ान भरने लगे। सूर्यकी दाहकताका सामना न कर सकनेके कारण जटायु लौट पड़ा और सम्पाती सूर्यके निकट पहुँचनेमें सफल

तो हो गया, किंतु उसके पंख तापमें जल जानेसे वह धराशायी हो गया । सूर्यतक पहुँचनेकी प्रतिस्पर्धा अभिमानके कारण ही उत्पन्न हुई । परिणामस्वरूप उसकी काया क्षतिग्रस्त हो गयी । सौभाग्यवश उसे चन्द्रमा नामक एक मुनिकी कृपाका सम्बल मिला, जिनके ज्ञानोपदेशसे उसका देहजनित अभिमान दूर हुआ ।

श्रीरामकी विजयोपलब्धिके उपरान्त इन्द्रने जब श्रीरामकी स्तुति की, तब उन्होंने यह स्वीकार किया कि उनमें सर्वश्रेष्ठताका अभिमान था, किंतु श्रीरामके पुनीत दर्शनसे वह जाता रहा । उनका यह उद्गार अवलोकनीय है—

मोहि रहा अति अभिमान । नहिं कोउ मोहि समान ॥
अब देखि प्रभु पद कंज । गत मान प्रद दुख पुंज ॥

यह सच है कि श्रीरामका नैकट्य प्राप्त होनेपर या उनकी भक्तिको हृदयंगम करनेपर अभिमानका अस्तित्व नष्ट हो जाता है । अभिमानरहित निर्मल हृदय ही ईश्वरको प्राप्त कर सकता है । इधर भगवान् भी अपने भक्तके हृदयमें अभिमानको नहीं रहने देते । श्रीरामके परम भक्त नारदमें एक बार इसलिये अभिमान उदय हुआ कि उन्होंने कामपर विजय प्राप्त कर ली थी । इससे प्रेरित होकर वे विष्णुभगवान्के समक्ष आत्मप्रशंसा करने लगे । करुणानिधि भगवान्ने मनमें विचार कर यह देख लिया कि मुनिमें गर्वतरु अंकुरित हो गया है, जिसका अविलम्ब उन्मूलन आवश्यक है । तत्पश्चात् भगवान्ने योजनाबद्ध ढंगसे नारदके अभिमानका नाश किया ।

सारांश, अभिमान किसीको नहीं छोड़ता । अवसर पाते ही वह तत्काल आक्रमण कर बैठता है । अपनी शक्तिका उपयोग कर आश्रयको दुर्गुणोंकी ओर ढकेलता है । इसकी पुष्टिमें मानसकारके द्वारा अन्य कई गाथाएँ प्रस्तुत की गयी हैं । चन्द्रमा अभिमानके कारण ही गुरुतियगामी बने, नहुष भूमिसुरोंके द्वारा उठायी गयी पालकीमें आरूढ हुए । राजा वेनने धर्मका अतिक्रमण किया । सहस्रबाहु, त्रिशंकु आदिको भी राज्याभिमानने कलंकित किया था । निम्नाङ्कित पङ्क्तियोंमें प्रस्तुत अभिमान-गाथा द्रष्टव्य है ।

इस अभिमानके दो रूप होते हैं—प्रथम निकृष्ट और द्वितीय उत्कृष्ट । अभिमान जब अपने आश्रयको पतनोन्मुख करता है तथा निन्दनीय, घृणास्पद एवं हेय कर्मोंके सम्पादनके लिये प्रेरित करता है, तब वह निकृष्ट कहलाता है । उपरिलिखित सभी वर्णन निकृष्ट अभिमानसे सम्बद्ध हैं । अभिमान कभी-कभी अपना उदात्त रूप भी प्रकट करता है । भक्तिसे सम्पृक्त होनेका भी एक अभिमान होता है, जिसे आत्मसात् करनेकी कामना सुतीक्ष्ण मुनिने की थी ।

आज अभिमानकी अतिशयताने मानवताको म्रियमाण कर दिया है । अभिमानके लोमहर्षक परिणाम हमें विनाशलीलाके रूपमें दिखायी देते हैं । अभिमान मनुष्यमें आसुरी वृत्तिका संचार करता है, फलस्वरूप जघन्य पाप किये जाते हैं । लोग अहंकारीकी तुष्टिके लिये जगकल्याणको दृष्टिसे ओझल कर देते हैं । इसी कारण बन्धुत्वकी भावना विकसित नहीं हो पा रही है । आज अभिमानके आतंकसे मानव-जातिको बचाना नितान्त आवश्यक है । इस शत्रुसे कैसे अपनी रक्षा करनी चाहिये ? इस संदर्भमें मानसकी अभिमान-गाथाएँ हमें भिक्षा दे सकती हैं । चित्तवृत्तिके शोधनके लिये अभिमान त्याज्य है, यह तथ्य आजके लिये भी सत्य है । भविष्यमें भी यह सत्य अक्षुण्ण रहेगा ।

उद्धव-संदेश—१५

(लेखक—डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

वधूस्नेह जब उत्कृष्टताको प्राप्त होता है, तब नव-तर माधुर्यका उदय होता है । तब न जाने कैसे एक अद्भुत उपायसे अतिप्रिय प्रेमास्पदके प्रति वह अदाक्षिण्य भाव धारण कर लेता है । इसीको 'मान' कहा जाता है । मानमें श्रीकृष्णद्वारा प्रदर्शित अत्यन्त आदरकी भी उपेक्षा दृष्ट होती है । अन्तमें तीव्र विरह-दशा उपस्थित होती है ।

'कांदिया कहये पुनः धिक् मोर बुद्धि ।
अभिमाने हाराइलाम कानु गुणनिधि ॥'

'भक्त अब क्रन्दन करते हुए अपनी बुद्धिको ही धिक्कार देते हुए कहता है कि अभिमानवश मैंने अपने गुणनिधान कन्हैयाको खो दिया ।'

मान प्रगाढताको प्राप्त होकर जब विश्रम्भका रूप धारण करता है, तब उसे प्रणय कहा जाता है । विश्रम्भ शब्दका अर्थ है अभिन्न मनन । उस समय अपने देह-मन-प्राण-बुद्धिके साथ श्रीकृष्णके देह-मन-प्राण-बुद्धिकी अभिन्नता प्रतीत होती है । तब प्रेमका नाम हो जाता है प्रणय । प्रगाढ प्रणयके फलस्वरूप श्रीकृष्णके साथ देह-मन-प्राणकी ऐक्य-भावना-हेतु श्री-राधाके बाह्य परिच्छद आदि भी ऐसे नीलवर्ण हो जाते हैं मानो अन्तरका ऐक्य ही बाहर व्यक्त होता है ।

निलिम मृगमदे, तनु अनुलेपन, नीलिम हार उजोर ।
नील वलय सने, भुजयुग बन्धन, पहिरण नीलनिचोल ॥

नीलवर्ण मृगमदसे देहका अनुलेप किया गया है । गलेमें नीलम हार सुशोभित है, दोनों भुजाओंमें नील वलय (कंकण, कड़े) बँधे हुए हैं और नीला वस्त्र ही परिधान हैं ।'

इसी प्रणयके गाढतर होनेपर उसका नाम हो जाता है 'राग' । अन्तरमें राग उदित होनेपर प्रियतमके लिये अतिशय दुःख भी सुख ही लगता है ।

'तोमार लागिया, कलङ्केर हार, गलाय परिते सुख ।'

'तुम्हारे लिये तो गलेमें कलङ्करूपी हार पहननेमें भी सुखका ही अनुभव होता है ।'

रागकी गाढतर अवस्थाका नाम ही 'अनुराग' है । तब अपने नित्य-नवायमान प्रियके साथ नव-नव भावसे आस्वादन करनेकी साध (लालसा) मनमें जागती है । केवल साध ही नहीं जागती—साथ-साथ ऐसा करनेकी सामर्थ्य भी उत्पन्न हो जाती है । **'सेइ अनुराग बाखानिये, तिले तिले नूतन होय ।'** अर्थात् उस अनुराग-हेतु प्रियतमका कण-कण नित्य नूतन दीखने लगता है । श्रीकृष्णका सौन्दर्य श्रीकृष्णमें ही निहित है, ऐसा नहीं है, वह अनुरागी भक्तके नयनोंपर भी निर्भरशील है । अनुराग-वृद्धिके साथ-साथ सौन्दर्य भी बढ़ता ही जाता है—

'आभार माधुर्य नित्य नव नव हय ।
स्व-स्व प्रेम अनुरूप भक्त आस्वादय ॥'

'मेरा माधुर्य नित्य नूतन होता जाता है और भक्त उसका अपने-अपने प्रेमके अनुरूप आस्वादन करते हैं ।'

अनुराग-दशामें एक और अभिनव व्यापार भी घटित होता है । प्रियके साथ एक कल्पका मिलन-काल भी एक क्षण-सा लगता है । 'गत यामिनी जित दामिनी ।' ब्रह्म-रात्रिपर्यन्त रासलीला हुई, किंतु गोपियोंको तो ऐसा लगा मानो रात्रि विद्युत्-झलककी तरह आयी और चली गयी । इसके विपरीत प्रियका एक क्षणार्धका विरह-काल भी सैकड़ों युगों-सा

प्रतीत होता है—'युगायितं निमेषेण'। अनुराग-दशामें इसके अतिरिक्त भी एक और अद्भुत व्यापार घटित होता है—जिस कार्य या वस्तुसे श्रीकृष्णको सुख मिलता है, उसमें भी गोपीको अनिष्टकी आशङ्का होती रहती है। रास-रजनीमें विरहिणी गोपियाँ विलाप करती हुई कह रही हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(भा० १० । ३१ । १९)

'हे श्रीकृष्ण ! हमारे कर्कश (कठोर) स्तनोंके ऊपर तुम्हारे कोमल चरणकमल रखनेसे कहीं तुम्हें व्यथा न हो जाय, इस भयसे हम तुम्हारे पाद-पद्मोंको अपने वक्षपर अत्यन्त संतर्पणसे धारण करती हैं। और उन्हीं कोमल चरणोंसे तुम शिल-तृणांकुर-आच्छन्न इस वन-भूमिमें विचरण कर रहे हो। यह बात सोचनेमात्रसे ही हमारा मस्तक चक्कर खा रहा है। तो क्या हमारे कठिन वक्षके स्पर्शसे श्रीकृष्णका चरणतल भी कठिन हो गया है, या फिर उनके कोमल पाद-स्पर्शसे वन-पथके प्रस्तरखण्ड ही कोमल हो गये हैं।—ऐसी-ऐसी सब भावनाएँ अनुरागके लक्षण हैं।

अनुराग जब 'स्वसंवेद्यदशा'को प्राप्त होकर 'यावदाश्रयवृत्ति' हो जाता है, तब उसे 'भाव' कहते हैं। अनुराग एक ऐसी अनिर्वचनीय पराकाष्ठाको प्राप्त हो जाता है, जब वह केवल अपने अनुभवका विषय ही रह जाता है—इसीलिये कहा है 'स्वसंवेद्य-दशा'। और जितनी मात्रामें अनुराग उत्पन्न होना सम्भव है, उतना सारा-का-सारा जब एक ही साथ, एक ही समय उत्पन्न हो जाता है, तब वह 'यावदाश्रयवृत्ति' कहलाता है।

'भाव'का उदय होते ही अन्तरकी दशा बाहर प्रकाशित हो जाती है। अश्रु, कम्प, पुलक, स्वेद, वैवर्ण्य, स्वरभङ्ग, स्तम्भ और प्रलय—ये आठ सात्त्विक भाव जब बाहर प्रकाशित होते हैं, तब समझना चाहिये कि अन्तरमें 'भाव' उदित हुआ है।

भाव और अधिक प्रगाढ होनेपर महाभावमें परिणत होता है। यह महाभाव श्रीकृष्णकी पटरानियोंको भी अति दुर्लभ है, केवल व्रजदेवियोंमें ही दृष्टिगोचर होता है।

मुकुन्दमहिषीवृन्दैरप्यसावतिदुर्लभः।
व्रजदेव्येकसंवेद्यो महाभावाख्ययोच्यते॥

(उ० नीलमणि)

यह महाभाव भी दो प्रकारका होता है, रूढ़ और अधिरूढ। जब सात्त्विक भाव साधारणरूपसे प्रकाशित होता है, तब उसे रूढ महाभाव कहते हैं। जब सभी भाव एक ही समय असाधारण प्रकारसे सुस्पष्टरूपसे प्रकाशित होते हैं, तब वह अधिरूढ महाभाव कहलाता है। इस अधिरूढ महाभावकी घनीभूत मूर्ति ही श्रीमती राधा हैं। श्रीराधाकी देह हमारे-सदृश रक्त-मांससे गठित नहीं है। उनकी देह तो 'प्रेमेर स्वरूप देह प्रेम-विभावित' है। जिस प्रकार स्वर्णालंकारका स्वरूप सोना ही है, उसी प्रकार श्रीराधाका सब कुछ महाभाव ही है। अधिरूढ महाभावके दो भेद हैं—मोदन और मादन। श्रीराधामें मोदनाख्य महाभावका उदय होनेपर स्वयं श्रीकृष्ण अभिभूत हो जाते हैं। श्रीकृष्ण मोदनाख्य महाभावके समीप ऋण स्वीकार कर लेते हैं। श्रीकृष्ण हैं जगन्मोहन और उनकी मोहिनी हैं श्रीराधा। मादनाख्य-महाभाववती हैं, अतः श्रीराधा जगदाकर्षणकारी श्रीकृष्णको भी आकर्षित करती हैं। प्रगाढ़ मिलन-जात आनन्द आस्वादन-हेतु मादनमें परिणत होता है। मादन है सर्वभावोद्गमोल्लासी। एक

ही मोदन-कालमें सर्वविध भावोंका उदय होता है। श्रीजीवगोस्वामी पाद कहते हैं कि दिव्यमदकी तरह मत्तताजनक होनेके कारण ही इसे मादन कहते हैं।

मोदनाख्य महाभाव विरहदशामें मोहन नामसे अभिहित होता है—

मोदनोऽयं प्रविलषेद्दशायां मोहनो भवेत्।
यस्मिन् विरहवैवश्यात् सूद्दीप्ता एव सात्त्विकाः॥

(उ० नीलमणि)

विरहकी तीव्रता-हेतु अष्ट-सात्त्विक भाव विशेष रूपसे सूद्दीप्त हो उठते हैं। इस अवस्थामें श्रीराधा स्वयं असह्य दुःख सहन करके भी श्रीकृष्णकी सुख-कामना करती हैं।

'से सब दुःख किछु ना गणि।
तोमार कुशले कुफल मानि॥'

'मैं इन सारे दुःखोंकी कुछ भी परवाह नहीं करती। बस, तुम्हारी कुशलमें ही अपनी कुशल मानती हूँ। मोदनाख्य महाभाव तीव्र विरहदशामें भ्रम-सदृश किसी अनिर्वचनीय विचित्रताको प्राप्त हो जानेपर (भ्रमाया कापि वैचित्री) दिव्योन्माद कहा जाता है। दिव्योन्माद-अवस्थाके भी उद्घूर्णा एवं चित्रजल्प प्रभृति नानाविध भेद हैं।

उद्घूर्णा-दशाके प्रवल विरह-कालमें श्रीराधा 'श्रीकृष्ण पधारेंगे' इस आशासे कुञ्जमें कभी वासक-शय्याकी तरह शय्याकी रचना करती हैं। फिर कभी कुपिता होकर खण्डिता भावका अवलम्बन कर नीले आकाशके प्रति तर्जन-गर्जन करती हैं। कभी अभि-सारिका बनकर निविड़-घन-अन्धकारको ही श्रीकृष्ण मानकर उसका प्रगाढ़ आलिङ्गन करके लिपट जाती हैं। ये सभी उद्घूर्णा-भावके लक्षण हैं।

फिर कभी विरहकालमें श्रीकृष्णके सुहृद्के साथ साक्षात् होनेपर अन्तरके गूढ़ रोषवश जो बहुभावमय जल्प उच्चारित होता है, वही चित्रजल्प है। चित्रजल्पके दस भेद हैं। उद्धवको देखकर श्रीराधाने जो प्रलाप किया है, उसमें चित्रजल्पके दशविध भेद प्रपञ्चित हुए हैं। रसिकजन इन श्लोकोंको 'भ्रमरगीत'के नामसे अभिहित करते हैं।

छोटे बालककी सचाई

दो छोटे बालक चले जा रहे थे। रास्तेमें एक छोटा बगीचा मिला। उसमें रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे जिनकी सुगन्धसे सारा मार्ग सुगंधित हो रहा था। यह देखकर एक लड़केने कहा—'इसमेंसे थोड़े-से फूल मुझे मिल जाते तो मैं ले जाकर अपनी बीमार बहिनको देता, वह बहुत प्रसन्न होती।' इसपर दूसरेने कहा—'तो तोड़ क्यों नहीं लेते? तुम्हारा हाथ न पहुँचता हो तो लाओ मैं तोड़ दूँ, मैं तुमसे लंबा हूँ।' पहले लड़केने उसका हाथ पकड़कर कहा,' नहीं-नहीं! ऐसा मत करना, चोरी बहुत बुरा काम है। मैं मालिकसे माँग लूँगा।' इतनेपर भी दूसरे लड़केने गुलाबका एक गुच्छा तोड़ ही लिया। मालीने दूरसे उसे तोड़ते देख लिया और दौड़कर पकड़ लिया, मारा और ले जाकर कोठरीमें थोड़ी देरतक बंद कर दिया।

इधर पहले लड़केने दरवाजेपर जाकर पुकारा, अन्दरसे एक दयालु बुढ़िया माईने आकर किवाड़ खोल दिया। लड़केने कहा—'माजी! कृपा कर मेरी बीमार बहनके लिये मुझे दो-एक गुलाबके फूल दोगी?' वृद्धा स्त्रीने कहा—'बड़ी प्रसन्नतासे। बेटा! मैं तुम दोनोंकी बातें सुन रही थी, तू बड़ा अच्छा लड़का है, चल, तुझे गुलाबका बढ़िया गुच्छा तोड़ दूँ।'

बुढ़ियाने गुलाब तोड़ दिया और कहा—'बेटा! जब-जब तेरी बहन फूल माँगे, तब-तब आकर ले जाया कर।' इतना ही नहीं, बुढ़िया लड़केकी बीमार बहनसे और उसकी माँसे मिलने गयी और उस लड़केको पढ़नेका खर्च देने लगी। जब लड़का पढ़ चुका, तब उसे अपने यहाँ नौकर रख लिया। सचाईका कितना सुन्दर परिणाम है!

विरह-सागरका चतुर नाविक

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

भगवान् श्रीरामचन्द्रके वियोगकी असह्य व्यथा सह सकनेमें असमर्थ महाराज दशरथकी सारी इन्द्रियोंमें जब शिथिलता आ गयी, तब महारानी कौसल्याजीने आर्त होकर हाथ जोड़ विनय करते हुए कहा—

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। रामबियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सब परिवारू॥

परंतु दशरथजी प्रेम-नैयाको कथित विरह-सागरमें आगे न खे सके और पतवारको हाथोंसे छोड़ते हुए कहने लगे—

यहि तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेम पन मोर निबाहा॥

—और इस असफल कर्णधारने कूदकर प्राण दे दिये। बस, सारी अयोध्या अनाथ और असहाय हो गयी। चारों ओरसे शोक-सागर उमड़ पड़ा। इधर विरहसागरमें नैया डाँवाडोल थी ही। उन्मत्त विरह-सागर अपनी उत्ताल तरङ्गोंकी चपेटसे अयोध्या-वासियोंको त्रस्त कर ही रहा था। इनकी दशाका वर्णन करते हुए तुलसीदासजी कहते हैं—

......................।बिषम बियोग न जाइ बखाना॥
नगर नारि नर ब्याकुल कैसे। निघटत नीर मीन गन जैसे॥
सहि न सके रघुबर बिरहागी।..............................॥

आदि।

माताएँ रामजीकी विरह-वेदनाके साथ-साथ वैधव्यके शोकसे विकल हो रही थीं, सारे नर-नारियोंपर महान् विपत्ति टूट पड़ी थी, कोई किसीको ढाढस न बँधाता था। अयोध्या शोक और विरह—दो सागरोंकी भयानक तरङ्गोंमें कभी डूबती, कभी उतराती थी। उधर कैकेयी अपने स्वार्थकी मस्तीमें पतवारसे सूनी नैयाको भँवरकी ओर घसीटे लिये जा रही थी। किसीको परिणामका ज्ञान न था। उसी समय कुशलकवि तुलसी एक चतुर, गम्भीर, नीतिज्ञ, शीलवान् नाविकको खोजकर ले आते हैं और उस डूबती नैयाकी पतवारको उसके हाथोंमें सौंपकर भीषण भँवरसे बचा लेते हैं। वह चतुर नाविक कौन था? वे थे महामना महात्मा भरत! जिन्हें संसार भगवान् श्रीरामचन्द्रके भाईके रूपमें पहचानता है।

भरतजी ननिहालसे लौटकर सीधे अपनी माता कैकेयीके महलमें पहुँचे। कैकेयीने सुना—पुत्र आ रहा है जिसके लिये इतना सब कुछ मैंने किया है—

आवत सुत सुनि कैकयनंदिनि। हरषी रबिकुल जलरुह चंदिनि॥

—और आरती सजा दौड़कर द्वारपर ही जा पहुँची! माँको देखते ही भरतजी पूछते हैं—

कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता॥

'कपट नीर भरि नैन' माता कहने लगी—

..........................। तात बात मैं सकल सँवारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥

कैकेयीकी भावना थी कि भरत यह सुनकर सुखी होंगे, परंतु हुआ कुछ और ही—

तात तात हा तात पुकारी। परेउ भूमितल ब्याकुल भारी॥

नगरवासियोंने जिस परिणामका अनुमान किया था, ठीक ही निकला—

'भरत की धूँजब राज पुर'

मूर्च्छासे उठकर भरतजी कारण पूछते हैं—'माता! पिताजी अचानक स्वर्गलोक कैसे सिधार गये? कारणका ज्ञान होनेपर 'थकित रहे धरि मौन।' बस, भरतजी वहीं अपनी माताको विरहसागरसे उठाकर बाहर बिठा देते हैं और पतवार अपने हाथोंमें ले लेते हैं। वे भीषण रूप धारणकर उपयुक्त वचन कहते हैं—

..............................।जन्मत काहे न मारे मोही॥
पेड़ काटि तैं पालव सींचा। मीन जियन निति बारि उलीचा॥

हंसबंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ॥

बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥
भूप प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही॥
जो अति अहित राम तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही॥

राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि॥

और अन्तमें उस माताको जो विरह-व्यथाके इतिहाससे अनभिज्ञ थी, तिरस्कृत करके कह ही डाला—

'आँखि ओट उठि बैठहि जाई।'

मैं तेरा मुँह भी नहीं देखना चाहता। इसके बाद उन्हें अपने भविष्यके कर्तव्यका ज्ञान आया और सीधे माता कौसल्याके पास पहुँचे। यह आवश्यक था कि जिसका सबसे अधिकरूपमें बिगाड़ हुआ था, जो पति और पुत्रके वियोगमें डूब-सी रही थी, जिसके हृदयमें यह भावना हो सकती थी कि भरत ही मेरे इन दुःखोंका मूल है और आशङ्का थी कि वह आर्त होकर प्राण न दे दे। वहाँ पहुँचकर भरतजी अपना निवेदन आरम्भ करते हैं—

कैकइ कत जनमी जग माँझा। जौं जनमी त भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी॥
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥

आदि।

—कहकर अपना छलविहीन हृदय खोलकर माता कौसल्याके सामने रख दिया। भरत-से सरल-शुद्ध हृदय और नीतिज्ञके लिये यह उचित ही था, नहीं तो अनर्थ हो जाता। कौसल्याजी कहीं हाथसे चली जातीं और यदि उन्हें इतना ही अनुमान हो गया होता कि भरत इस मन्त्रणामें हैं तो तुलसीकी रामायण भी दूसरी ओर चली जाती। इसीलिये भरतजी शपथ लेकर अपना बयान देते हैं—

छल बिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी॥
जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥

आर्त होकर बहुत कह डाला, कौसल्याजीका हृदय द्रवित होकर कह उठा—

मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

यहाँ कौसल्याजीके हृदयकी उज्ज्वलताका प्रमाण मिल जाता है और भरत निःशङ्क होकर आगे बढ़ते हैं। यदि तुलसी-से चतुर कविने अपनी माताकी अवहेलना कराकर श्रीरामकी मातासे यह न कहलवाया होता तो अयोध्याकी विरह-नैयाका नाविक पद भरत न पाते और न जाने क्या अनर्थ हो गया होता।

पिताके अन्त्येष्टि-कर्मसे निपट जानेके अनन्तर राज-सभा हुई, वसिष्ठजी अयोध्याकी प्रजाके समक्ष भरतको राज्य-भार सँभालनेका अनुरोध करते हैं। धर्म एवं नीतिसे युक्त उपदेश देते हुए कहते हैं—(यह भरत-की परीक्षाका दूसरा समय था।)

सुनहु भरत भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥

अस बिचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥
राजँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥
नृपहि बचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना। करहु तात पितु बचन प्रवाना॥
परसुराम पितु अग्या राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥

भावार्थ यह कि अपनी माताकी अवज्ञा की सो तो ठीक, पिताकी आज्ञा तुम्हारे वंशमें सब मानते आये हैं, अतः तुम भी राज्यपद लेकर अनुचित-उचितका विचार छोड़ अपना कर्तव्य निभाओ।

बेद बिहित संमत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥

कौसल्याजीने भी कहा—

पूत पथ्य गुरु आयसु अहई············ ॥

माता और गुरुकी इतनी प्रभावशाली वक्तृता उस चतुर नाविकपर क्या असर डालती है, यह देखते ही बनता है। वाह रे भरत! इस परीक्षामें भी तू सफलतासे उत्तीर्ण हो गया। पिताकी आज्ञा, माताका आग्रह, कौसल्याका अनुरोध, गुरुका उपदेश—इन सबको किस सुन्दरतासे अलग रख देता है। यदि यहाँ उलझ गया होता तो तुझे कौन पूछता। क्या ही सुन्दर शब्द हैं—

गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भल जानी॥
जद्यपि यह समुझत हौं नीके। तदपि होत परितोष न जी के॥
ऊतर देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥

पिताका स्वर्गवास, सिया-रामका वन-गमन और मुझे राज्य करनेके लिये सबका आग्रह, आप मेरा इसमें हित समझते हैं, मेरा हित केवल सीतापतिकी सेवामें निहित है, परंतु उस निहितको माताकी कुटिलताने हर लिया। शोकसमाज लेकर मैं क्या राज्य कर सकूँगा? नहीं, बिना विरतिके ब्रह्म-विचार किस कामका। रुग्ण शरीरको बहु भोग—सब व्यर्थ है। जैसे बिना जीवके शरीर, वैसा ही मेरा राज्य होगा! मेरी तो एक ही अभिलाषा, एक ही प्रार्थना और एक ही ध्येय है—

जाउँ राम पहिं आयसु देहू। एकहिं आँक मोर हित एहू॥

धन्य भरत! तुम्हारे बिना यह कौन कह सकता था। फिर कहते हैं—किसी योग्य व्यक्तिको राज्य दीजिये। मोहवश यदि मुझे राज्य आपने दिया, तो अयोध्याका राज्य रसातलको चला जायगा।

बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥
कारन तें कारज कठिन होय दोस नहिं मोर॥

मेरा इससे अधिक क्या हित होगा। मेरा हित तो सब मेरी माताने ही बना दिया है। राम-सीयको वनमें भेज दिया, पिताको विदाकर वैधव्य-सुख ले लिया और प्रजा तथा माताओंको शोक-संताप दे दिया।

मोहि दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकईं सब कर काजू॥

मेरी सब बातें तो विधाताने ही बना दी, आप वृथा ही प्रयास करते हैं—

कैकइ सुअन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥
मोहि बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सिय राम प्रान प्रिय नाहीं॥
परम हानि सब कहँ बड़ लाहू॥

मेरा दुर्दिन है, आपका दोष नहीं है। आप सब संशय—प्रेमवश जो उचित है, वही कह रहे हैं। सिवा सियारामके मुझे इस दुर्दैवसे निकालनेवाला कौन है? वे ही यह कह सकते हैं कि 'मोर मत नाहीं'। मुझे जगके उपहासका डर नहीं, परलोकका भी सोच नहीं, परंतु दुःख इतना ही है—मेरे लिये मेरे जीवनके सर्वस्व श्रीरामने संकट सहे। मेरा अन्तमें यही कहना है कि बिना श्रीरामके चरण देखे मेरे हृदयकी जलन न जायगी—

बिनु देखे सियराम पद जिय की जरनि न जाइ।

फिर कहते हैं—

एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

बस, यहींपर माताएँ, पुरजन, सभी लोग भरतको पतवार सौंप देते हैं और उन्हें विरहसागरका चतुर नाविक मान लेते हैं!

लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥

सब एक स्वरसे कह उठते हैं—

अबसि चलिअ बन राम जहँ भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबन दीन्ह॥

और यही कौसल्या महारानीके वचन हैं—

परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम ही सुत सब कर अवलंबा॥

यह वचन दशरथ-मरणके समयके—'करनधार तुम्ह अवध जहाजू' के साथ भरतपर घट जाता है और भरतजी प्रातःकाल ही इस जहाजमें प्रिय पथिकोंको बिठाकर चित्रकूटको चल देते हैं। क्या ही अनोखा दृश्य है!

*

चित्रकूटके मार्गमें नाविक (निषाद) बिना पहचाने विरोधके साथ जहाजको रोकनेकी भूल करना चाहता है, पर कपटहीन नाविक अपनी क्षमतासे झूमता चला जाता है। फिर आगे चलकर लक्ष्मणजीको भ्रम होता है, परंतु वहाँ भी इन्हींकी विजय होती है। परंतु जगत् परीक्षा-पर-परीक्षा प्रतिक्षण करता रहता है। तीसरी बार भरत नाविककी परीक्षा चित्रकूटमें श्रीरामजीके समक्ष देते हैं। यहाँ भी तुलसीदासजी कहते हैं—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥
प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटे सुर साधुहित कृपासिंधु रघुबीर॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी भरत-विरह-सागरका मन्थन करनेपर प्रेम-अमृत ही पाते हैं और जगत्-हितके लिये उसे अयोध्यावासियोंको सौंप देते हैं। परीक्षाके अन्तमें उन्हें चरण-पादुकाओंका प्रमाणपत्र दिया जाता है, जिसे लेकर भरत **'मगन मन'** इतना बड़ा भार हँसते-हँसते अपने ऊपर लेकर अयोध्या लौट आते हैं।

भरतजी-सा चतुर नाविक विरह-सागरमें अयोध्याके इस जहाजको झूमते हुए खेता चला जाता है। दो-चार दिन नहीं, बड़े लम्बे चौदह बरसतक। किसीको खटक न पाये, ऐसा मस्त योग्य नाविक और कौन मिल सकता था, धन्य भरत! राज्यमदको एक कोनेमें टरका दिया। कई भँवर आये, कुशलतासे उनसे बचाकर नैया पार ले गया। खे गया! खूब ही खे गया!! सौंपी कहाँ! किसे! चौदह बरस बाद—

रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुरलोग।
× × × ×
राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रके अनन्य सेवक—जिन्होंने भरतको इस विरहसागरकी नैया कुशलतासे खेते हुए अयोध्यामें संजीवनी लाते समय देखकर कहा था—

तव प्रताप उर राखि प्रभु जैहउँ नाथ तुरंत।
.... ॥
भरत बाहु बल सील गुन प्रभु पद प्रीति अपार।
मन महुँ जात सराहत पुनि पुनि पवनकुमार॥

वे परिचितपोत पवनकुमार भरतकी दशासे प्रभावित होकर कहते हैं—

जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुन गन पाँती॥
रघुकुलतिलक सुजन सुख दाता। आयउ कुसल देव मुनि त्राता॥
रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता अनुज सहित प्रभु आवत॥

बस, भरत यहींपर संयोगके गम्भीर समुद्रमें इस जहाजको भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको सौंपकर फिर विरह-सागरमें किस सुन्दरतासे मग्न हो गये, संसार उसीको यादकर करुण-रसकी उपासना करता है। भरतजी नगरवासी, माताओं और गुरुको साथ ले भगवान्के स्वागतको चल देते हैं। अहा! क्या सुख है। विरह-सागरका नाविक भवसागरके नाविकको अपना भार सौंपता है—

राजीव लोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुवन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जात नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही॥
बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥

भरत! तुम्हें संसार पूजेगा, परंतु मूर्त्ति बनाकर नहीं, विरहसागरका चतुर नाविक समझकर!

जनरंजन भंजन भव भारू। रामसनेह सुधाकर सारू॥···
दुखदाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

यदि भरत! तुम न हुए होते तो इन चौदह वर्षोंमें अयोध्या उजाड़ हो जाती। खाली विरह-सागर ही बहता होता! वाह रे चतुर नाविक, धन्य!

पावन स्थल—सम्भल-तीर्थ

(दण्डी स्वामी श्रीसुखबोधाश्रमजी महाराज)

[भारतवर्षमें प्रत्येक युगमें धर्मकी रक्षा एवं दुष्टोंके विनाशके लिये भगवान्‌के विभिन्न अवतार होते आये हैं। शास्त्रोंके अनुसार कलियुगके अन्तमें तथा सत्ययुगके प्रारम्भमें भगवान्‌के कल्कि-अवतारका वर्णन मिलता है। कल्कि-पुराणमें इसका विस्तृत विवेचन प्राप्त है। प्रस्तुत लेखमें भगवान् कल्किकी लीला-भूमि 'सम्भल-तीर्थके माहात्म्य, परिचय और विशेषताका दिग्दर्शन कराया गया है।, जिसे दो अङ्कोंमें प्रकाशित किया जा रहा है।—सम्पादक]

कल्कि-पुराणका प्रथम मङ्गलाचरण-श्लोक इस प्रकार है—

यद्दोर्दण्डकरालसर्पकवलज्वालाज्वलद्विग्रहा
धत्तत्सत्करवालदण्डदलिता भूपाः क्षितिक्षोभकाः।
शश्वत्सैन्धववाहनो द्विजजनिः कल्किः परात्मा हरिः
पायात् सत्ययुगादिकृत् स भगवान् धर्मप्रवृत्तिप्रियः॥

'जिन्होंने भुजदण्डरूप कराल सर्पके ग्रासकी विषाक्त ज्वालासे जलते हुए शरीरवाले एवं पृथ्वीको क्षुब्ध करनेवाले भूपालोंका पृथक्-पृथक् अपनी उत्तम तलवारसे संहार कर दिया, घोड़ा ही जिनका सनातन वाहन है, जो सत्ययुगके आदि कर्ता हैं, धर्मकी प्रवृत्ति जिन्हें प्रिय है, जो ब्राह्मण-वंशमें जन्म लेनेवाले हैं, ऐसे परात्मा भगवान् श्रीहरि जगत्‌की रक्षा करें।'*

यह आख्यान इस प्रकार है—नैमिषारण्यमें शौनकादि महर्षियोंने बारह वर्षमें समाप्त होनेवाले यज्ञका आरम्भ किया था। वहाँ श्रीसूतजीके पधारनेपर महर्षियोंने उनसे यह प्रश्न किया कि राजा परीक्षित्‌का निर्वाण हो जानेपर कलियुगका आदि, मध्य और अन्त किस प्रकार हुआ ?

श्रीसूतजीने उत्तर दिया कि श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌को कथा सुनाकर उसकी पूजा स्वीकार कर भिक्षुओंके साथ महर्षि मार्कण्डेयके आश्रममें आये और वहीं उन्होंने ऋषियोंके इसी प्रश्नका समाधान किया था। श्रीशुकदेवजीसे अनुमति लेकर मैंने भी कलिकी आदि, मध्य, अन्त-कथाओंको जैसे सुना था, वैसे ही आपको भी सुनाता हूँ।

प्रलयान्ते जगत्स्रष्टा ब्रह्मा लोकपितामहः।
ससर्ज घोरं मलिनं पृष्ठदेशात् स्वपातकम्॥
स चाधर्म इति ख्यातस्तस्य वंशानुकीर्तनात्।
श्रवणात् स्मरणाल्लोकः सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(१। १३, १५)

'प्रलयकालके अन्तमें जगत्‌की सृष्टि करनेवाले लोकपितामह ब्रह्माने अपनी पीठसे अपने भयंकर मलिन पातककी सृष्टि की, वह अधर्म नामसे विख्यात हुआ। उसके वंशके कीर्तन, श्रवण और स्मरणसे मनुष्य समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है।'

उस अधर्म-कुलके धर्मविरोधियोंका प्रचार आरम्भ होनेपर यज्ञ-दान-तप-स्वाध्याय, वर्णधर्म, आश्रम-धर्म लुप्त होने लगते हैं। धर्मका नामतक मिट जाता है। तब सब देवता यज्ञयागादिका आहार न मिलनेसे दुःखी होकर ब्रह्माजीकी शरणमें जाते हैं। ब्रह्माजी भी इन सब देवताओंको साथ लेकर गोलोकमें पहुँचकर श्रीनारायणको भूमण्डलकी दुर्दशा सुनाते हैं। विष्णुभगवान् भी यह बात सुनकर सम्भलमें विष्णुयशा ब्राह्मणके यहाँ अपने अवतारका

* इसके शुद्ध तर्क-पूर्ण विस्तृत अर्थ एवं कल्किपुराण-सम्भल-माहात्म्यपर संयुक्त सूक्ष्मतर गवेषणापूर्ण शोधके लिये डॉ० श्रीईश्वरदत्त त्रिपाठीका शोध-प्रबन्ध द्रष्टव्य है।

वचन देते हैं और अपनी सहायताके लिये देवताओंको भी आर्यावर्तमें अवतीर्ण होनेका निर्देश देते हैं। लक्ष्मीजी सिंहलद्वीपमें बृहद्रथ राजर्षिकी धर्मपत्नी कौमुदीकी कोखसे जन्म लेती हैं। इनका नाम 'पद्मा' था। इसके अनुसार सूर्यवंशके राजा 'मरु' और चन्द्रवंशके राजा 'देवापि'ने कल्कि विष्णुभगवान्‌की आज्ञाके अनुसार वर्णाश्रमकी मर्यादाओंको व्यवस्थित की।

बैशाख मासके शुक्लपक्षकी द्वादशीके दिन कन्या-लग्नमें यह अवतार होता है। भगवान् चतुर्भुजरूपसे माता-पिताको दर्शन देकर ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे द्विभुज रूप धारण करते हैं। इनके जन्मके समय नद, नदी, समुद्र, पर्वत आदि सभी स्थानोंमें शुभ शकुन हुए और चराचर विश्वमें प्रसन्नता छा गयी। कल्कि विष्णुभगवान् विशाखयूप राजाके साथ और अपने ज्येष्ठ भ्राताओं तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ धर्मकी रक्षाके लिये विचार-विमर्श करने लगे।

शिवके द्वारा भेजे गये वेदमय शुकके माध्यमसे सिंहलद्वीपमें पद्मावतीके स्वयंवरका समाचार प्राप्त कर श्रीकल्कि विष्णुभगवान् उस स्वयंवरमें पधारे। लक्ष्मी-रूपिणी पद्मावतीके प्रभावसे उस स्वयंवरमें आये हुए राजाओंको स्त्रीभावकी प्राप्ति हो गयी। पद्मावतीके साथ श्रीकल्कि भगवान्‌का विवाह-संस्कार सम्पन्न होनेपर राजागण पुनः पुरुषभावको प्राप्त हुए और भगवान्‌की इस मायाका चमत्कार जाननेकी प्रार्थना की। तभी अनन्त नामके मुनिने प्रकट होकर अपने जन्मकी कथा सुनाकर समझाया कि अघटितघटनापटीयसी भगवान्‌की मायामें सब कुछ सम्भव है। स्त्री, पुरुष, नपुंसक, देश, काल, वस्तु—ये सब कल्पित पदार्थ हैं। भगवान्‌की शरणागति ही एकमात्र जीवोंके कल्याणका साधन है। यह सब सुनकर भगवद्भक्तिमें विभोर होकर सभी राजा अपने-अपने देशको चले गये।

इधर पद्मावतीको साथ लेकर भगवान् कल्किने सम्भलमें प्रवेश किया। विश्वकर्माके द्वारा उस समय इन्द्रकी अमरावतीके समान सम्भलकी शोभा हुई। कुछ समयके अनन्तर कल्किभगवान्‌के यहाँ पद्मावतीने 'जय-विजय' नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया। कल्किभगवान्‌के अन्य भ्राताओंके यहाँ भी दो-दो पुत्रोंका जन्म हुआ। फिर कुछ समय बाद कल्किभगवान्‌के पिता विष्णुयशाके द्वारा अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न हुआ। सूर्यवंशके राजा मरु और चन्द्रवंशके राजा देवापिने भी उसी समय उपस्थित होकर कल्किभगवान्‌की आज्ञासे अन्यान्य धर्म-विरोधियोंका संहार किया और धर्म तथा सत्ययुगकी स्थापना की थी और पुनः करेंगे। परशुरामजीद्वारा निर्दिष्ट रुक्मिणी-व्रतकी महिमासे रमाको पुत्रकी प्राप्ति, ब्रह्मा आदि देवताओंका कल्कि विष्णु-भगवान्‌के दर्शनके लिये सम्भलमें उपस्थित होने, श्रीगङ्गाजीकी स्तुति करके ऋषियोंका भी वहाँ आने, मरु और देवापिके हाथोंमें पृथ्वीकी रक्षाका भार सौंपकर कल्कि विष्णुभगवान्‌का अपने वैकुण्ठधामके लिये प्रस्थान करने आदि विषयोंके साथ कल्किपुराणके पाठ और श्रवणके माहात्म्यका भी वर्णन प्राप्त है—

अवतारं महाविष्णोः कल्केः परममद्भुतम्।
पठतां शृण्वतां भक्त्या सर्वाशुभविनाशनम्॥

'कल्कि महाविष्णुके परम अद्भुत अवतारकी कथा भक्तिपूर्वक पढ़ने और सुननेवालोंके सभी अमङ्गलोंका नाश करनेवाली है।'

—क्रमशः

१—कल्किपुराणमें कथा भूतकालमें ही वर्णित है। तभी सम्भलके तीर्थोंकी सार्थकता होती है। कथा किसी पूर्वकल्पकी है।

गीता-तत्त्व-चिन्तन

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीतामें भगवान्‌का विविध रूपोंमें प्रकट होना

करुणानिधिकृष्णेन स्वकीयं प्रकटीकृतम्।
विभिन्नरूपं* सर्वेषु चाध्यायेष्वर्जुनं प्रति ॥

अवतारके समय भगवान् गुप्तरूपसे रहते हैं और सबके सामने अपने-आपको भगवद्रूपसे प्रकट नहीं करते (७ । २५), परंतु अर्जुनके भावको देखते हुए उनके सामने भगवान् गीतामें कृपापूर्वक अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं; जैसे—

भक्त मुझसे जो काम कराना चाहता है और मुझे जिस रूपमें देखना चाहता है, मैं वही काम करता हूँ और उसके भावके अनुसार वैसा ही बन जाता हूँ—इस प्रकार अपनेको भक्तोंके अधीन बतानेके लिये भगवान् पहले अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सारथि'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१ । २१, २४) ।

जो मनुष्य कर्तव्य-अकर्तव्य, सत्-असत् आदिके विषयमें उलझा हो, स्वयं कोई निर्णय नहीं कर पा रहा हो, वह मेरी शरण होकर मुझे पुकारे तो मैं उसे सब बता देता हूँ, उसकी उलझनको सुलझा देता हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् दूसरे अध्यायमें किंकर्तव्यविमूढ़ और शरणापन्न अर्जुनके सामने **'गुरु'**-रूपसे प्रकट होते हैं (२ । ७) ।

जो मनुष्य मुझे प्राप्त हो जाय, उसे भी लोक-संग्रहके लिये तत्परतासे अपने कर्तव्यका पालन करते रहना चाहिये । कारण कि मुझे त्रिलोकीमें कुछ भी करना और कुछ भी पाना शेष नहीं है, फिर भी मैं निरालस्य होकर अपने कर्तव्यमें ही लगा रहता हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् तीसरे अध्यायमें अर्जुनके सामने **'आदर्श'**-रूपसे प्रकट होते हैं (३ । २२–२४) ।

मैं चाहे गुणों और कर्मोंके अनुसार प्राणियोंकी रचना करूँ, चाहे सूर्य आदिको उपदेश देनेवाला बनूँ, चाहे अवतार लेकर धर्मकी स्थापना, दुष्टोंका विनाश और भक्तोंकी रक्षा करूँ, चाहे पुत्ररूपसे माता-पिताकी आज्ञाका पालन करूँ, चाहे मात्र प्राणियोंका स्वामी बनूँ, पर मेरी ईश्वरतामें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता—यह बात बतानेके लिये भगवान् चौथे अध्यायमें अर्जुनके सामने **'ईश्वर'**-रूपसे प्रकट होते हैं (४ । ६) ।

सभी यज्ञों और तपोंका भोक्ता मैं ही हूँ, सम्पूर्ण लोकोंका स्वामी मैं ही हूँ तथा प्राणियोंका बिना कारण हित करनेवाला भी मैं ही हूँ—इस प्रकार अपनी महत्ता बताकर अर्जुनको तथा मनुष्योंको अपना भक्त बनानेके लिये भगवान् पाँचवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'महेश्वर'**-रूपसे प्रकट होते हैं (५ । २९) ।

ध्यान करनेवाले साधकोंके लिये सबमें मुझे और मुझमें सबको देखना अर्थात् जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ (सब जगह) मुझे देखना बहुत आवश्यक है । कारण कि ऐसा होनेपर ही मन मुझमें तल्लीन हो सकता है—यह बात बतानेके लिये भगवान् छठे अध्यायमें अर्जुनके सामने **'व्यापक'**-रूपसे प्रकट होते हैं (६ । ३०) ।

---

* यहाँ (इस श्लोकमें) 'म-विपुला'का प्रयोग हुआ है । ऐसे ही प्रत्येक लेखके आरम्भमें दिये हुए अन्य श्लोकोंमें कहीं-कहीं 'विपुला'का प्रयोग हुआ है । इस प्रकारके प्रयोगको 'पिङ्गलच्छन्दःसूत्रम्' ग्रन्थके अनुसार 'पथ्यावक्त्र' नामक छन्दके अन्तर्गत ही माना गया है ।

मैं ही सम्पूर्ण संसारमें सूतके धागेमें पिरोयी हुई सूतकी मणियोंकी तरह ओतप्रोत हूँ; सम्पूर्ण प्राणियोंका सनातन बीज भी मैं ही हूँ; ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ-रूपसे भी मैं ही हूँ—इस प्रकार **'वासुदेवः सर्वम्'**का बोध करानेके लिये भगवान् सातवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'समग्र'**-रूपसे प्रकट होते हैं (७ । २९-३०) ।

सगुण-निराकार और निर्गुण-निराकारके ध्यानमें योग-बलकी आवश्यकता होनेसे उन दोनोंके ध्यानमें कठिनता है; परंतु मैं अपने अनन्य भक्तोंको सुलभतासे प्राप्त हो जाता हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् आठवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सुलभ'**-रूपसे प्रकट होते हैं (८ । १४) ।

इस संसारका माता, पिता, धाता, पितामह, गति, भर्ता, निवास, बीज आदि मैं ही हूँ अर्थात् कार्य-कारण, सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि सब कुछ मैं ही हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् नवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सत्-असत्'**-रूपसे प्रकट होते हैं (९ । १९) ।

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं ही हूँ; सर्गोंके आदि, मध्य और अन्तमें मैं हूँ; सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज मैं ही हूँ; साधकको जहाँ-कहीं सुन्दरता, महत्ता, अलौकिकता दीखे, वह सब वास्तवमें मेरी ही है—यह बात बतानेके लिये भगवान् दसवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'सर्वैश्वर्य'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१० । ४१-४२) ।

मैं अपने किसी एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको व्याप्त करके स्थित हूँ—इसे बतानेके लिये भगवान् ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनको दिव्यचक्षु देकर उनके सामने **'विश्व-रूप'**से प्रकट होते हैं (११ । ५-८) ।

जो भक्त मेरे परायण होकर सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके अनन्य भक्तियोगसे मुझ सगुण-साकार परमेश्वरका ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला बन जाता हूँ—इसे बतानेके लिये भगवान् बारहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'समुद्धर्ता'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१२ । ७) ।

जाननेके जितने विषय हैं, उन सबमें अवश्य जाननेयोग्य तो एक परमात्मतत्त्व ही है । इस परमात्म-तत्त्वके सिवाय दूसरे जितने भी जाननेयोग्य विषय हैं, उन्हें मनुष्य कितना ही जान ले, पर उससे पूर्णता नहीं होगी । यदि वह परमात्मतत्त्वको जान ले तो फिर अपूर्णता रहेगी ही नहीं—यह बात जनानेके लिये भगवान् तेरहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'ज्ञेयतत्त्व'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१३ । १२–१८) ।

जिस प्रकृतिसे सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण उत्पन्न होते हैं, उसका अधिष्ठाता (स्वामी) मैं ही हूँ, महासर्गके आदिमें मैं ही संसारकी रचना करता हूँ; ब्रह्म, अविनाशी अमृत, सनातनधर्म तथा ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ—यह बात बतानेके लिये भगवान् चौदहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'आदिपुरुष'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१४ । २७) ।

इस संसारका मूल मैं ही हूँ; सूर्य, चन्द्र आदिमें मेरा ही तेज है; मैं ही पृथ्वीको धारण करता हूँ; वेदोंको जाननेवाला, वेदोंके तत्त्वका निर्णय करनेवाला तथा वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य भी मैं ही हूँ; मैं क्षर (संसार)से अतीत एवं अक्षर (जीवात्मा)से श्रेष्ठ हूँ; वेदोंमें और शास्त्रोंमें मैं ही श्रेष्ठ पुरुषके नामसे प्रसिद्ध हूँ—अपनी यह सर्वश्रेष्ठता बतानेके लिये भगवान् पंद्रहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने **'पुरुषोत्तम'**-रूपसे प्रकट होते हैं (१५ । १७–१९) ।

दम्भ, दर्प, अभिमान आदि जितने भी दुर्गुण हैं, वे सभी मनुष्योंके अपने बनाये हुए हैं, अर्थात् ये मेरे

नहीं हैं; परंतु अभय, अहिंसा, सत्य, दया, क्षमा आदि जितने भी उत्तम गुण हैं, वे सभी मेरे हैं और मेरी प्राप्ति करानेवाले हैं—यह बात बतानेके लिये भगवान् सोलहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने 'दैवी सम्पत्ति'-रूपसे प्रकट होते हैं (१६ । १–३) ।

यदि मनुष्य किसी भी कार्यके आरम्भमें श्रद्धापूर्वक मेरा अथवा मेरे नामका स्मरण नहीं करेगा तो उसके उस कार्यकी पूर्ति नहीं होगी; परंतु जो किसी भी कार्यके आरम्भमें श्रद्धापूर्वक मेरा या मेरे नामका स्मरण करेगा, उसके उस कार्यकी पूर्ति हो जायगी—यह बात बतानेके लिये भगवान् सत्रहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने 'ॐ तत् सत्' नामोंके रूपसे प्रकट होते हैं (१७ । २३) ।

सम्पूर्ण गीतोपदेशका सार अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि सभी साधनोंका सार बतानेके लिये भगवान् अठारहवें अध्यायमें अर्जुनके सामने 'सर्वशरण्य'-रूपसे प्रकट होते हैं (१८ । ६६) ।

तात्पर्य यह है कि साधकका भगवान्‌के प्रति ज्यों-ज्यों भाव बढ़ता है, त्यों-त्यों भगवान् उसके भावके अनुसार अपनेको प्रकट करते हैं, जिससे साधक भक्तके भाव, श्रद्धा, विश्वास भी बढ़ते रहते हैं । इनके बढ़ते-बढ़ते अन्तमें भगवत्प्राप्ति हो जाती है । साधकको सावधानी इस बातकी रखनी है कि उसका अनन्यभाव कभी डिगे नहीं, अनन्यभावसे वह कभी विचलित न हो ।

गीतामें ईश्वरवाद

षट्स्वेव दर्शनेष्वीशो न तथापेक्षितो मतः ।
कल्याणार्थं तु जीवानां गीयते गीतयेश्वरः ॥

अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा गीतामें ईश्वरवाद विशेषरूपसे आया है । न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—ये छहों दर्शन केवल जीवके कल्याणके लिये ही हैं; परंतु इनमें ईश्वरका वर्णन मुख्यतासे नहीं हुआ है । इनमेंसे 'न्यायदर्शन'में 'जो कुछ होता है, वह सब ईश्वरकी इच्छासे ही होता है'—इस तरह ईश्वरका आदर तो किया गया है, पर मुक्तिमें वह ईश्वरकी आवश्यकता नहीं मानता । वह इक्कीस प्रकारके दुःखोंके ध्वंसको ही मुक्ति बताता है । 'वैशेषिकदर्शन'में भी जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी आवश्यकता न बताकर आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीनों तापोंका नाश बताया गया है । 'योगदर्शन'में मुख्यरूपसे चित्तवृत्तियोंके निरोधकी बात आयी है । चित्तवृत्तियोंके निरोधसे स्वरूपमें स्थिति हो जाती है । हाँ, चित्तवृत्ति-निरोधमें ईश्वरप्रणिधान (शरणागति)को भी एक उपाय बताया गया है, पर इस उपायकी प्रधानता नहीं है । 'सांख्यदर्शन' और 'पूर्वमीमांसादर्शन' तो जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझते । 'उत्तरमीमांसादर्शन' (वेदान्तदर्शन)में ईश्वरकी बात विशेषरूपसे नहीं आयी है, प्रत्युत जीव और ब्रह्मकी एकताकी बात ही विशेषरूपसे आयी है । वैष्णवाचार्योंने भी ईश्वरकी विशेषता तो बतायी है, पर जैसी गीताने बतायी है, वैसी नहीं बतायी ।

गीतामें ईश्वर-भक्तिकी बात मुख्यरूपसे आयी है । अर्जुन जबतक भगवान्‌की शरण नहीं हुए, तबतक भगवान्‌ने उपदेश नहीं दिया । जब अर्जुनने भगवान्‌की शरण होकर अपने कल्याणकी बात पूछी, तब भगवान्‌ने गीताका उपदेश आरम्भ किया । उपदेशके अन्तमें भी भगवान्‌ने **'मामेकं शरणं व्रज'** (१८ । ६६) कहकर अपनी शरणागतिको अत्यन्त गोपनीय तत्त्व बताया और अर्जुनने भी **'करिष्ये वचनं तव'** (१८ । ७३)कहकर पूर्ण शरणागतिको स्वीकार किया ।

गीतोक्त कर्मयोगमें भी ईश्वरकी आज्ञारूपसे ईश्वरकी मुख्यता आयी है; जैसे—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (२ । ४७); **'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२ । ४८); **'नियतं कुरु कर्म त्वम्'** (३ । ८); **'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्'** (४ । १५) आदि-आदि ।

ऐसे ही गीतोक्त ज्ञानयोगमें भी ईश्वरकी अव्यभिचारिणी भक्तिको ज्ञान-प्राप्तिका साधन बताया गया है (१३ । १०; १४ । २६) ।

गीताके मूल पाठका अध्ययन करनेसे ही पता चलता है कि जीवके कल्याणके लिये ईश्वरकी कितनी आवश्यकता है ।

कहानी

प्रभुकी अहैतुकी कृपा

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

(१)

एक सेठजीका यह नियम था कि जबतक वे किसी अतिथिको भोजन न करा लेते, तबतक स्वयं भोजन न करते थे । वे एक भक्त साहूकार थे । लखपती सेठ थे, पर लक्ष्मीसे वे जलसे कमल-पत्रके समान विलग रहते थे । उनके दो लड़के थे, गृहलक्ष्मी थी और घरपर तीन नौकर रहते थे । एक नौकरका यह काम था कि वह प्रतिदिन किसी-न-किसी अतिथिको सेठजीके यहाँ भोजन कराने लिवा लाया करे । अतिथिका अभिप्राय यह कि वह अपने नगरका निवासी न हो और न सदा आने-जानेवाला हो । यदि कई अतिथि मिल जायँ तो और भी अच्छा, नहीं तो प्रतिदिन एक अतिथिका मिलना अनिवार्य था ।

एक दिन शामके चार बज गये, पर कोई अतिथि न मिला । नौकरने शहरके चार चक्कर लगाये, पर बेकार। जो अतिथि मिलते और नौकर उन्हें निमन्त्रण देता, उनमेंसे कोई कुछ कह देता और कोई कुछ । एकने कहा—'मैं भोजन करके शहरमें आया हूँ ।' दूसरेने कहा—'मेरे पास क्या कमी है जो दूसरेके यहाँ रोटी माँगता फिरूँ ?' तीसरेने कहा—'जान न पहचान, बड़े मियाँ सलाम । मैं तुम्हारे साथ चलूँ और तुम ले जाओ मुझे कहीं गुंडोंके अड्डेपर ! भोजन तो एक ओर रहा, जो कुछ मेरे पास लट-पट है, उसे भी छिनवा लो । अच्छा रोजगार सीखा है तुम्हारे मालिकने ! लम्बी काटो ! मैं चकमेमें आनेवाला आदमी नहीं ।'

बड़ी कठिनतासे एक महात्माको साथ लेकर नौकर हवेलीपर गया । महात्माजीको देखकर सेठजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'आइये, महाराज ! आपकी कुटी कहाँ है ?'

महात्मा—भागलपुर जिलेमें ।

सेठ—आपका शरीर किस जातिका है ?

महात्मा—ब्राह्मण ।

सेठ—कितने दिनोंसे आप फकीरी करते हैं ?

महात्मा—तीस सालसे ।

सेठ—अब आपकी क्या अवस्था है ?

महात्मा—सत्तर सालकी ।

सेठ—आपने सब तीर्थ किये होंगे ?

महात्मा—हाँ ।

सेठ—इधर किधर जानेका विचार है ?

महात्मा—विठूरके ब्रह्माजीका दर्शन करने जा रहा हूँ।

सेठ—आपने अनेक सिद्धोंकी संगति पायी होगी ?

महात्मा—अवश्य ।

सेठ—आप शिक्षित जान पड़ते हैं ।

महात्मा—हिंदी, उर्दू, फारसी, संस्कृत, बँगला, गुजराती और गुरुमुखी जानता हूँ ।

सेठ—धन्य भाग्य, जो आपके दर्शन हुए ! अब आप आज्ञा कीजिये कि आपके लिये कच्चा खाना मँगाऊँ या पक्का । दोनों प्रकारके भोजन ब्राह्मण रसोईदारके बनाये हुए तैयार हैं ।

महात्मा—पक्का भोजन ठीक है ।

सेठजीके आज्ञानुसार एक पत्तलमें महात्माजीको पक्का भोजन परोसा गया। बिना भोग लगाये ही महात्माजी भोजन करने लगे।

(२)

सेठ—आपने भोग नहीं लगाया ?

महात्मा—कैसा भोग ?

सेठ—आपने परमात्माका नाम भी नहीं लिया। हिंदुओंमें नियम है कि भोजन करते समय भगवान्‌को अर्पण कर भोजन करते हैं। मुसलमानोंमें नियम है कि खाना खाते समय 'बिस्मिल्लाह' कहते हैं।

महात्मा—यह सब ढोंग है।

सेठ—क्या आप परमात्माको नहीं मानते ?

महात्मा—कहाँ है, परमात्मा ? दिखाओ !

सेठ—तो आप नास्तिक हैं ?

महात्मा—जी हाँ।

सेठ—(झल्लाकर) नास्तिकको मैं भोजन नहीं दे सकता। राम ! राम ! आज महापाप हो गया। आप पण्डित नहीं—मूर्ख हैं। आप महात्मा नहीं—बदमाश हैं। आपका तीर्थगमन बेकार है। आपका सत्सङ्ग व्यर्थ है। आप पापी हैं—निशाचर हैं।

इतना कहकर सेठजीने नौकरको बुलाया। जब वह आया, तब वे कड़ककर बोले—'क्यों रे ! तुझे यही पाखण्डी मिला था, जो ईश्वरको नहीं मानता ? मैं इसकी सूरत नहीं देखना चाहता। इस महापापी राक्षसकी पत्तलको उठाकर बाहर कुत्तोंके सामने फेंक दे और इसकी गर्दन पकड़कर अभी मेरे मकानसे बाहर निकाल दे।'

नौकरने बाबाजीपर धावा बोल दिया। उनकी पत्तल फेंक दी। बेचारे आधी ही पूड़ी खा पाये थे। कान पकड़कर उस नास्तिक बाबाको घरसे बाहर ढकेल दिया गया।

(३)

सेठजीने नौकरको फिर भेजा कि वह किसी आस्तिक अतिथिको ले आये। बेचारा फिर भागा। एक घंटे बाद वह लौटा। साथमें थे, एक बाबाजी। वे राम-नामी कपड़ा ओढ़े थे। उनके गलेमें तुलसी-माला लटक रही थी और मस्तकपर रामानन्दी तिलक। सेठने कहा—'यह अतिथि ठीक है।'

पूछनेपर बाबाजीने कच्चा भोजन माँगा। पत्तल परोसी गयी। बाबाजीने भोग लगाते हुए कहा—'धन्य भगवन् ! जय हो गोपालजीकी। परमात्मा ! आप बड़े दयालु हो। सेठजीकी जय हो। बाल-बच्चे हरे-भरे रहें। महिमा महाप्रसादकी—पावो भोग लगाय। जय सीतारामकी। लक्ष्मीनारायणकी जय। गुरुजीकी जय। संत-सतीकी जय। दाता की जय। जगद्गुरु दत्तकी जय।'

भोग लगाकर बाबाजी भोजन करने लगे। सेठजीने कहा—'इसी तरह भोग लगाया जाता है। इसी तरहके बाबाजी ठीक होते हैं। वह मरमुखा नास्तिक बड़ा दुष्ट था। पक्का भोजन चाहिये और ईश्वरका नाम लेते छाती फटती थी। जिसने इतना अच्छा भोजन दिया, उस प्रभुको धन्यवादतक नहीं। साधू काहेका, सवादू था।'

भोजन करके जब बाबाजी चलने लगे, तब सेठजीने पाँच रुपया दक्षिणा दी। बाबाजी आशीर्वादकी वर्षा करके चले गये।

इसके बाद सेठजीने भोजन किया।

(४)

रातको सेठजीने रामायण तथा गीताका पाठ किया और विनय-पत्रिकाके पद गाये। सब लोगोंने मिलकर संकीर्तन किया। बच्चे और सेठानी भी उस कीर्तनमें सम्मिलित हुई। यह प्रतिदिनका नियम था। इसके बाद ठाकुरजीकी आरती हुई।

जब रात अधिक हुई और सेठजी पलँगपर जा लेटे, तब उनके हृदयमें एक आकाशवाणी हुई—

'सेठ! तुमने जिस नास्तिकको भूखा भगा दिया था, जानते हो उसे आज मैं सत्तर सालसे लगातार भोजन देता आ रहा हूँ ? तुम जिसका पालन एक दिन भी न कर सके, उसका पालन मैं सत्तर सालसे कर रहा हूँ। तुम मेरे कैसे भक्त हो ?'

सेठजीने कहा—'प्रभो! आप सबके परम सुहृद् हैं, हम सबपर अहैतुकी कृपा रखते हैं। मेरी भूल क्षमा कीजिये। वास्तवमें मुझसे भूल हुई। नास्तिक और आस्तिक दोनोंका पालन आप ही करते हैं। इसीको कहते हैं—अहैतुकी कृपा। आप सबपर निःस्वार्थ तथा हार्दिक स्नेह रखते हैं। बाप अपने अयोग्य लड़केको भी रोटी देता ही है।'

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

(लेखक—डाँ० श्रीशरणप्रसादजी)

३. विश्राम

विश्रामका महत्त्व—अत्यधिक परिश्रमसे थके हुए व्यक्तिमें विश्रामके पश्चात् नवजीवनका संचार होता है। हमलोग प्रतिदिन शरीर तथा मनसे दिनभर श्रम करते हैं, थककर चूर हो जाते हैं, किंतु रातकी गहरी नींदसे शरीरमें पुनः नयी शक्ति तथा मनमें नयी उमंग उठने लगती है। विश्रामके बाद श्रम तथा श्रमके बाद विश्राम, दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं। थके हुए व्यक्तिको पेटभर भोजन करानेसे उसमें नयी शक्ति नहीं आयेगी। शक्ति विश्रामसे आती है। जिस प्रकार बैटरी 'डिस्चार्ज' होनेपर 'चार्ज' करके पुनः उपयोगमें लायी जाती है, उसी प्रकार निद्रा या विश्रामकी अवस्थामें शरीरकी 'क्षतिपूर्ति' होती है। श्रम करते समय शरीरके कोश टूटते या नष्ट होते हैं और नींद या विश्रामके समय नये कोशोंका निर्माण होता है।

लोग शरीरको तो विश्राम देते हैं, किंतु मनको विश्राम नहीं देते। शरीर एक स्थानपर पड़ा रहता है, किंतु मन इधर-उधर भटकता रहता है। नींदके समय शरीर शान्त रहता है, किंतु मन स्वप्नमें फँसा रहता है। शरीर तथा मन दोनोंको विश्राम देनेकी कला सीखनेपर ही पूरा विश्राम मिल सकता है। मनको विश्राम देनेकी कला ध्यान, नामस्मरण तथा माला आदि फेरनेसे प्राप्त की जा सकती है। नित्यके अभ्याससे यह सम्भव है। मनके अशान्त रहनेपर शरीरका स्वस्थ रहना प्रायः अशक्य है। इसलिये हमारी आजीविका सत्यमार्गसे प्राप्त की हुई होनी चाहिये। दिनभरके जीवनमें संयम-नियमका पालन करनेसे मनको शान्त रखनेमें सहायता मिलती है।

विश्रामकी मात्रा—नवजात शिशु चौबीस घंटेमें प्रायः बाईस घंटे सोता है। वह केवल माँका दूध पीनेके लिये जागता है। बिस्तरपर थोड़ा-सा खेलने तथा रोनेमें उसका व्यायाम हो जाता है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी नींद कम होती जाती है। छोटे बालक ग्यारह-बारह घंटे, किशोर आठ-नौ घंटे, युवक आठ घंटे, प्रौढ़ छः-सात घंटे और वृद्ध चार-छः घंटे सोते हैं, सामान्यरूपसे आयु बढ़नेके साथ-साथ विश्रामकी मात्रा क्रमशः कम होने लगती है।

नवजात शिशु सबसे अधिक इसलिये सोता है कि उसके शरीरमें निर्माण-कार्य अत्यन्त तीव्र गतिसे चलता है, किंतु कोशोंका क्षय न्यूनतम मात्रामें होता है। जहाँ शरीरमें कोश-निर्माण-कार्यकी अधिकता होगी, वहाँ निद्राकी मात्रामें वृद्धि होगी। मनुष्यको युवावस्था अथवा

तीस वर्षकी आयुतक आठ घंटे नींदकी आवश्यकता होती है; क्योंकि युवक श्रम भी अधिक करता है और उसके शरीरमें क्षतिकी अपेक्षा निर्माण-कार्य कुछ अधिक मात्रामें होता है। प्रौढ़-अवस्थामें निर्माण और क्षयका संतुलन-सा बना रहता है, तथापि शारीरिक शक्तिका झुकाव घटनेकी ओर रहता है। आयु-वृद्धिके साथ-साथ शरीरमें 'छीजन' अधिक होती है और उसके अनुपातमें क्षति-पूर्तिकी मात्रा कुछ कम रहती है।

जब आयु कम होती है, तब शरीरके सभी अवयव शक्तिशाली और नये होते हैं; क्योंकि उनमें विश्रामके द्वारा क्षति-पूर्तिकी क्षमता अधिक रहती है। आयु-वृद्धिके साथ जब शरीरके अवयव पूर्णरूपसे क्षति-पूर्ति नहीं कर पाते और घिसते चले जाते हैं, तभी वृद्धावस्था आती है तथा क्षति-पूर्तिकी प्रक्रिया समाप्त होनेपर मृत्युका आगमन होता है।

निद्रा विश्रामका सर्वोत्तम साधन है। निद्रा कम लेनेपर क्षतिपूर्तिके अभावमें शरीरमें थकान बनी रहती है। शारीरिक थकानका अर्थ है कि सभी अवयव थके हुए एवं सुस्त हैं, फलतः पाचन-तन्त्रके अवयव अपना कार्य, जिसमें मल-विसर्जन भी सम्मिलित है, पूरी तरह नहीं कर पाते। इसके परिणामस्वरूप शरीरमें मलका संचय प्रारम्भ होता है, जो सभी रोगोंका मूल कारण है—'**सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।**'

इस प्रकार हम देखते हैं कि आहार तथा श्रमकी तरह विश्राम भी शरीरके लिये समान रूपसे महत्त्व रखता है। इन तीनोंमें किसी एक या अधिकको अवहेलना करनेसे शरीरमें रोगकी उत्पत्ति अनिवार्य है। निद्रा निःस्वप्न या कम स्वप्नयुक्त हो तो अधिक विश्राम-दायिनी होती है।

भोजनके बाद सुस्ती या नींद क्यों आती है— भोजन करनेके पश्चात् आमाशयमें अन्न पहुँचता है। उसे पचानेके लिये आमाशयमें अधिक रक्त-संचारकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार पाचनमें सहयोग देनेके लिये शरीरके विभिन्न अङ्ग हाथ-पैर, मस्तिष्क आदिका अतिरिक्त रक्त आमाशयमें पहुँचता है, जिससे पाचन-कार्यको गति मिलती है और उसमें सुगमता होती है। इस तरह उदरके अतिरिक्त विभिन्न अङ्गोंमें रक्त-संचारकी कमी होनेपर सम्बद्ध अङ्गोंमें शिथिलता आना स्वाभाविक है। इसलिये भोजनके पश्चात् पंद्रह-बीस मिनटतक विश्राम करनेसे पाचन-कार्यमें सुविधा होती है। गरिष्ठ या अधिक भोजन कर लेनेपर सबको ऐसा अनुभव होता है और विश्रामके बाद पेट और शरीर दोनों हलके लगते हैं।

बच्चों या युवकोंमें भोजनके बाद आराम करने या लेटनेकी वृत्ति कम दिखायी देती है। वयस्कों अथवा वृद्धोंमें यह वृत्ति अधिक पायी जाती है। बच्चे या युवक तो शक्तिके भंडार होते हैं, इसलिये भोजनके बाद खेलते-कूदते रहनेपर भी उनकी अतिरिक्त जीवनी-शक्ति पाचन-कार्यको सरलतासे पूरा कर लेती है। फिर भी थोड़ा विश्राम कर लेनेपर पाचन-कार्यमें सुविधा होती है। वयस्क, वृद्ध व्यक्ति या रोगीकी जीवनी शक्ति अल्प होती है, इसलिये भोजनके पश्चात् तत्काल उनकी जीवनी-शक्तिका अधिकांश भाग पाचन-कार्यमें लगना स्वाभाविक है। अतएव भोजनके पश्चात् किंचित् विश्राम करना सदैव हितकर है।

जिन्हें भोजन करनेके बाद तुरंत कार्यालयमें जाना पड़ता है, उन्हें दोपहरमें अपने आहारकी मात्रा अल्पतम रखनी चाहिये; जिससे जीवनी-शक्तिको पाचन-क्रियापर विशेष ध्यान न देना पड़े। ऐसे व्यक्तियोंको दोपहरमें लघु आहार तथा सायंकाल या रात्रिमें मुख्य आहार करना चाहिये। इसलिये विदेशके लोगोंमें दोपहरको हल्का और रात्रिको मुख्य आहार लेनेकी रीति है।

आज भी बड़े शहरोंमें जिन व्यक्तियोंको प्रातः आठ बजेसे राततक लगातार काम रहता है, वे दिनमें दूध, फल या अल्पाहार लेते हैं। ग्रीष्म ऋतुमें विश्रामकी विशेष आवश्यकता रहती है; क्योंकि गरमीके कारण थकानका शीघ्र और अधिक अनुभव होता है। वर्षा या शीत ऋतुमें मामूली या अल्पतम विश्रामसे काम चल जाता है; क्योंकि इन ऋतुओंमें शरीरमें स्फूर्ति पर्याप्त रहती है, विशेषकर शीत ऋतुमें, तथापि अधिक आहार करके विश्राम करनेके उपाय निकालना आलस्यका परिचायक है।

जिस प्रकार अधिक आहार या अधिक श्रमसे शरीरको हानि पहुँचती है, उसी प्रकार अधिक विश्राम भी हानिप्रद है। इससे शरीरमें आलस्य बढ़ता है और उससे शारीरिक तथा मानसिक कार्य-शक्ति घटती है।

आहार, श्रम तथा विश्राम—इन तीनोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये परस्पर एक-दूसरेको प्रभावित करते हैं। इसलिये आहार तथा श्रमके अनुकूल ही शरीर विश्रामकी माँग करता है। इसी कारण एक मजदूरको, चूँकि उसकी मांसपेशियोंके कोशोंका अधिक क्षय होता है, इसलिये एक कार्यालयके बाबूसे अधिक आहार तथा विश्रामकी आवश्यकता रहती है।

सारांश, व्यक्तिगत आहार-विहार तथा आयुको ध्यानमें रखकर ही विश्रामकी व्यवस्था करनी चाहिये। जो धनिक लोग आहार अधिक और श्रम न कर आवश्यकतासे अधिक विश्राम लेते हैं, उनके शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी रचनामें विकृति आ जाती है। मोटापा, तोंद निकलना या मधुमेह उसीका लक्षण है। आहार, श्रम तथा विश्राममें संतुलन रखनेसे शरीर सुडौल एवं गठीला बनता है।

अधिक विश्रामकी तरह अल्प विश्राम भी अनेक प्रकारके रोग पैदा करता है। मन्दाग्नि, कब्ज तथा पाचन-सम्बन्धी रोग इसीके प्रारम्भिक परिणाम हैं। अतएव आहार, श्रम तथा विश्रामका संतुलन होना चाहिये। यही शरीर तथा मनको स्वस्थ रखनेका सर्वोच्च उपाय है।

गौकी स्तुति

रात हो या दिन, अच्छा समय हो या बुरा, कितना ही बड़ा भय क्यों न उपस्थित हुआ हो, यदि मनुष्य निम्नाङ्कित श्लोकोंका कीर्तन करता है तो वह सब प्रकारके भयसे मुक्त हो जाता है—

गावो मामुपतिष्ठन्तु हेमशृङ्ग्यः पयोमुचः। सुरभ्यः सौरभेय्यश्च सरितः सागरं यथा॥
गा वै पश्याम्यहं नित्यं गावः पश्यन्तु मां सदा। गावोऽस्माकं वयं तासां यतो गावस्ततो वयम्॥

(महा० अनु० ७८। २३-२४)

'जैसे नदियाँ समुद्रके पास जाती हैं, उसी तरह सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली दुग्धवती सुरभि और सौरभेयी गौएँ मेरे निकट आवें। मैं सदा गौओंका दर्शन करूँ और गौएँ मुझपर कृपादृष्टि करें। गौएँ मेरी हैं और मैं गौओंका हूँ, जहाँ गौएँ रहें, वहाँ मैं भी रहूँ।'

यया सर्वमिदं व्याप्तं जगत् स्थावरजङ्गमम्। तां धेनुं शिरसा वन्दे भूतभव्यस्य मातरम्॥

(महा० अनु० ८०। १५)

'जिस गौसे यह स्थावर-जंगम अखिल विश्व व्याप्त है, उस भूत और भविष्यकी जननी गौको मैं सिर नवाकर प्रणाम करता हूँ।'
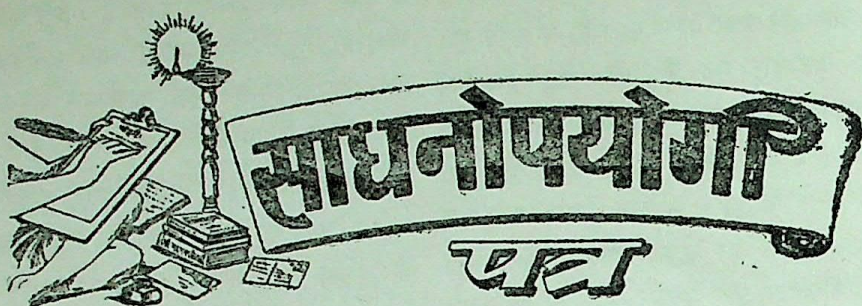
[परमार्थ-पत्रावली]

(१)

सप्रेम राम-राम । आपका पत्र मिला । समाचार ज्ञात हुए । आपने लिखा कि 'आजकल लोग कहा करते हैं कि मनुष्य अपने भाग्यका निर्माता स्वयं है ।' इसका हमलोग यह अर्थ भी ले सकते हैं कि हम जैसे कर्म करेंगे, फल भी वैसा ही मिलेगा । दूसरे आधुनिक समझके लोग यह भी अनुभव करते हैं कि 'सब कुछ मनुष्यके पौरुषपर ही निर्भर है ।' इनमें कर्मोंके अनुसार फल मिलनेकी बात तो ठीक है, परंतु सब कुछ मनुष्यके पौरुषपर ही निर्भर है, यह सिद्धान्त केवल धर्म और मोक्षके विषयमें ही मानना चाहिये । अर्थ (धन) और काम (भोग) की प्राप्तिके विषयमें नहीं; क्योंकि ये कर्मोंके फल हैं, अतः इनमें प्रारब्धकी ही प्रधानता है । इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनमें अर्थ और कामके विषयमें प्रारब्धकी प्रधानता समझनी चाहिये और धर्म तथा मोक्षके विषयमें पुरुषार्थकी; क्योंकि ये कर्ताके साधनपर ही निर्भर हैं । इस प्रकार समझकर अपनी समस्या सुलझानी चाहिये और भारी-से-भारी विपत्तिमें भी धर्म (सत्य और न्याय)-का त्याग कभी नहीं करना चाहिये । महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वमें कहा है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
(५ । ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय कामसे, भयसे, लोभसे या जीवनरक्षाके लिये भी धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और उसका हेतु (जीविका) अनित्य है ।'

आपके घरकी परिस्थितिका समाचार पढ़कर विचार हुआ, पर जब मनुष्यपर संकट पड़ता है, तब उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है । युधिष्ठिर, नल आदि-जैसे अच्छे-अच्छे पुरुषोंपर भी प्रारब्धवश संकट आये थे । प्रारब्ध-वश प्राप्त हुए संकटको भगवान्‌का विधान समझकर सहर्ष सहन करना चाहिये, इससे स्वार्थ और परमार्थ दोनोंमें लाभ है ।

आपने लिखा कि 'अन्य मतावलम्बी ईसाई अथवा यवन मेरी विपत्तिसे अनुचित लाभ उठानेका प्रयत्न करते हैं । पापी मन कभी-कभी विचलित-सा हो जाता है और मैं सोचने लग जाता हूँ कि जिस जातिमें शिक्षाका मान नहीं, भाईका सम्मान नहीं, गरीबोंपर

दया नहीं और पारस्परिक सहायताका नाम नहीं, उसमें व्यर्थ घुटकर मरनेसे क्या लाभ ?' सो इस विषयपर आपको गहरा विचार करना चाहिये। दूसरी जातिमें हिंदू-जातिसे अधिक सम्मान-सत्कार और दया मिलनेकी सम्भावना तो भ्रममात्र है। उनमें तो प्रायः अनादर और अत्याचारकी मात्रा ही अधिक देखी जाती है। इसलिये सांसारिक संकट प्राप्त होनेपर भी आपको प्रलोभनोंमें नहीं पड़ना चाहिये। उनसे सांसारिक स्वार्थ सिद्ध होनेकी आशा भी कभी नहीं करनी चाहिये। पारमार्थिक हानि तो है ही। अन्य धर्मावलम्बी आरम्भमें तो अवश्य अच्छा व्यवहार करते हैं, परंतु यह भी उन लोगोंकी एक नीतिमात्र है। आरम्भमें तो वे खूब प्रेम करते हैं, प्रलोभन देते हैं; परंतु पीछे ऐसा छिटका देते हैं कि सँभालते भी नहीं। थोड़ी देरके लिये मान भी लें कि उनके यहाँ सांसारिक सुख मिलेंगे, तो भी क्या अपने धर्मको छोड़ना चाहिये। मेरी समझसे तो प्राण देकर भी अपने धर्मकी रक्षा करनी चाहिये। किसी दूसरे भाईकी भी वृत्ति यदि इस ओर जाय तो आप-जैसे पढ़े-लिखे पुरुषको उसे भी समझा-बुझाकर उस ओर न जानेके लिये ही उत्साहित करना चाहिये। धर्म ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे संकटके डरसे छोड़ दिया जाय। धर्मरक्षाकी परीक्षा तो संकटमें ही हुआ करती है।

आपने लिखा है कि 'जीते रहकर कलङ्क लगानेकी अपेक्षा मृत्यु क्या बुरी है ? परंतु यदि इन आपत्तियोंसे ऊबकर माता, पिता और अपने आश्रितजनोंको छोड़कर आत्महत्या कर ली जाय तो यह घोर पाप ही होगा।' आपका यह लिखना ठीक है, धर्मसे विचलित न होकर मृत्यु हो जानेको अच्छा समझना तो सराहनीय है। किंतु आप-जैसे पढ़े-लिखे और बुद्धिमान् पुरुषको संकट पड़नेपर आत्महत्याका विचार ही क्यों करना चाहिये ! मनुष्यपर कभी संकट आ भी जाता है तो वह सदा थोड़े ही रहता है। ईश्वर-भक्ति और सदाचारपर दृढ़ रहना चाहिये और उसके बलसे संकटके कटनेकी आशा-प्रतीक्षा करनी चाहिये। मुझे तो विश्वास है कि इनपर दृढ़ रहनेवालेको बहुत दिनोंतक कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इसलिये आत्महत्याका विचार तो कभी करना ही नहीं चाहिये। ऐसी परिस्थितिमें केवल भगवान्की शरण लेनी चाहिये। भगवान्के भजनकी शरण हो जानेसे मनुष्य सब संकटोंसे पार हो सकता है (गीता १८ । ५८)। हिंदू-धर्मके अनुसार परलोक और पुनर्जन्म सत्य ही हैं। इसीलिये आत्महत्या करनेसे दुःखोंसे छुटकारा हो जायगा, यह समझना भी भारी भूल है।

आपने लिखा कि 'गरीबी ही संसारके समस्त पापोंकी जड़ है, झूठ बोलना, कपट करना, चोरी आदि करना सब इसीके अन्तर्गत हैं।' सो ऐसा नहीं मानना चाहिये। धनी लोग प्रायः गरीबोंसे अधिक झूठ बोलते हैं और पाप भी प्रायः अधिक ही करते हैं। धनियोंकी अपेक्षा गरीब धर्मके पालनमें भी बहुत अच्छे हैं, उनमें विनय होती है, ईश्वरका भय भी रहता है। धनियोंमें तो इसके विपरीत प्रायः उद्दण्डता और प्रमाद ही देखे जाते हैं। इन सब दोषोंके होनेमें कुसङ्ग (बुरा वातावरण) और स्वभाव (अन्तःकरणकी राजसी-तामसी वृत्तियां) ही हेतु हैं। इन्हें हटानेके लिये भी सत्सङ्ग और ईश्वरकी शरणागति ही मुख्य उपाय है।

'पवित्र आत्मा कलुषित होती जा रही है' लिखा, सो उसे पवित्र बनाये रखनेके लिये और उसकी पवित्रताकी वृद्धिके लिये भी भगवान्की शरणागति ही उपाय है। **'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम'** यह उद्धरण प्रमाणमें लिखकर आपने अपनेको द्विविधाग्रस्त लिखा सो यह द्विविधा न रखकर केवल एक भगवान्के नामकी

ही शरण लेनी चाहिये, उसके आश्रयसे सब कुछ हो सकता है। कठोपनिषद्में कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(१।२।१७)

अर्थात् 'यही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही परम आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर पुरुष ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

आपने लिखा कि 'जिस देहसे प्राणिमात्रकी सेवा नहीं होती, वह मृतकके समान है। भगवान् उसीके प्रिय हैं, जो उसकी रची हुई प्रजामें उसीका स्वरूप लखकर उससे प्रेम करते हैं और उसके दुःखमें दुःखी होते हैं।' सो ऐसा ही करना चाहिये। आपने लिखा कि 'आप मुझे आपत्तिके समय आश्वासन दें तथा इसका उत्तर सान्त्वनाभरे शब्दोंमें दें, जिससे मेरी आत्मा संतुष्ट हो।' सो आश्वासन और सान्त्वना देनेवाले तो भगवान् ही हैं। मैं तो साधारण आदमी हूँ। फिर भी आप यदि मेरे पत्रसे संतोष मानेंगे तो यह आपके प्रेमकी बात है।

आपने लिखा कि 'धन तो चञ्चल बिजलीके समान है, इससे जो कुछ यश और धर्म कमाया जा सके यही अच्छा है' सो बहुत ठीक है। यशसे भी धर्म कमाना उत्तम है।

(२)

आपने पूछा कि 'अपनी दिनचर्या किस प्रकार बनानी चाहिये, क्या-क्या नित्यकर्म करना, काम किस समय करना, कामके समय भाव कैसा रखना तथा कौन-सी पुस्तक किस समय पढ़नी चाहिये?' अतएव सबेरे जागनेसे लेकर रातको सोनेतकका समय विभक्त करके यहाँ लिखा जा रहा है। आप अपने सुभीतेके अनुसार पाव-आध घण्टेकी कमी-बेशी चाहे जैसे कर सकते हैं।

प्रातःकाल ४ बजे जगना।

४ बजेसे ४-४५—शौच-स्नान आदि।

४.४५ से ६—संध्या तथा गायत्री-जप। संध्या करनेके बाद शेष एक घण्टेमें गायत्रीकी सात माला जपना।

६ से ६.३०—गीताजीका पाठ और विवेचनपूर्वक मनन करना।

६.३० से ७.३०—मानसिक पूजा और नाम-जपसहित ध्यान करना। ध्यानके समय यदि विक्षेप-आलस्य आवे तो ध्यानकी वृत्तियाँ बनानेके लिये भगवान्की स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये अथवा 'गीता-तत्वाङ्क'में प्रकाशित प्रेम, वैराग्य और ध्यानविषयक बातें पढ़नी चाहिये।

७.३० बजेसे ८—स्वास्थ्यके लिये व्यायाम करना तथा घूमना।

८ से १०—भगवान्के नामका जप तथा उनके स्वरूपका ध्यान करते हुए ही कामको भगवान्का काम समझकर भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवान् ही हमारे साथ रहकर काम करवा रहे हैं—इस भावसे काम करना चाहिये।

१० से ११—भोजन करके बड़े उत्साह और प्रेमसे चित्त-वृत्तियोंको भगवन्मयी बनानेके लिये भागवत, रामायण आदिका विवेक और वैराग्य-युक्त बुद्धिसे विचार करना चाहिये, केवल पाठमात्र ही नहीं।

११से ४—पूर्वमें ८-१० तकके लिये बताये हुए भावके अनुसार ही काम करना।

४ से ४.४५—शौच-स्नान आदि।

४.४५ से ५.३०—संध्या करके गायत्रीका तीन माला जप इस समय कर लेना चाहिये।

५.३०से ७—गुण, प्रभाव, लीलासहित श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक नाम-जप करते हुए भगवान्के स्वरूपका ध्यान

करना चाहिये। ध्यानके समय यदि विक्षेप-आलस्य आवें तो इनके नाशके लिये वैराग्य, भक्ति, ज्ञान, ध्यान और भगवत्प्रेमसम्बन्धी पुस्तकें पढ़नी चाहिये।

७ से ७-३०—भोजन, विश्राम।

७.३० से ८.३०—सत्सङ्गमें जाकर गीताका अभ्यास करना।

८.३० से १०—सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना और संस्थाके कार्यकी आवश्यकता हो तो प्रातः ८ से १० तकके लिये बताये हुए भावके अनुसार ही संस्थाका काम करना चाहिये।

१० से ४—भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए ही सोना।

आपने लिखा कि 'कभी प्रार्थनामय ही बननेकी मनमें आती है, तो कभी गीता ही पढ़नेकी और कभी नाम-जपपरायण ही होनेकी मनमें आती है, तो कभी सद्ग्रन्थोंको पढ़नेकी ही प्रधानता करनेकी आती है।' सो ठीक है, भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान तो हर समय—आठों पहर ही रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। सोनेके समय नाम-जप और ध्यान करते हुए ही सोना चाहिये तथा सोते हुए भी स्वप्नमें नाम-जप और ध्यान ही करते रहना चाहिये। रही गीता और सद्ग्रन्थोंके पढ़नेकी तथा प्रार्थना करनेकी बात, सो समय-समयपर ऐसा करनेके लिये ऊपर लिखा ही है।

आपने लिखा कि 'और भी बहुत-सी बातोंको लेकर खटपट बनी ही रहती है। आपसे पूछनेकी मनमें आती है, किंतु फिर यह मनमें आ जाता है कि भजन-ध्यानसे यह सब मिट जायगी।' सो ठीक है, परंतु हमसे पूछनेमें आपको कोई संकोच नहीं करना चाहिये।

आपने लिखा कि 'काम करते समय नाम-जप खूब अच्छी तरह हो सकता है—यह तो खूब विश्वास है।' सो ठीक है, यदि काम करते समय जप, ध्यान, प्रसन्नता, शान्ति रहे तो काममें अधिक समय लगाया जाय तो भी कोई हानि नहीं; क्योंकि ऐसा काम भी उत्तम साधन है (गीता ८। ७, १८। ५७)।

आपने लिखा कि 'कभी मनमें आता है कि दूध पीना चाहिये और कभी मनमें आता है कि अपने शरीरके लिये इतना अधिक खर्च नहीं करना चाहिये।' सो ठीक है, यदि पच जाय तो दोनों समय दूध पीना चाहिये। दूध सात्त्विक पदार्थ है। इसके सेवनसे वृत्तियाँ सात्त्विक रहती हैं। यह मेरा अपना अनुभव है। दूधके खर्चको अधिक खर्च नहीं समझना चाहिये। यह तो सादे जीवनमें ही सम्मिलित है।

व्यायामके विषयमें लिखा सो ठीक है, व्यायाम नियमपूर्वक करना चाहिये, पर शीर्षासन दस मिनटसे अधिक नहीं करना चाहिये।

आपने अपने मनके अनुकूल ही उत्तर न लिखनेके लिये लिखा सो ठीक है। आपके मनके अनुकूल ही सब बातें नहीं लिखी हैं। आपकी प्रकृति, स्वास्थ्य, समय, कार्यकी परिस्थिति तथा सुविधा लक्ष्यमें रखकर ही ये सब बातें लिखी गयी हैं।

व्यर्थकी बातोंमें बहुत समय चला जाता लिखा, सो व्यर्थ बातें तो न सुननी और न करनी ही चाहिये। इस विषयमें जितना संयम करें उतना ही अच्छा है। आपमें तो प्रायः संयम ही देखा जाता है। यदि योग्यतासे उचित मात्रामें बोलनेका काम पड़े तो उसके लिये ग्लानि नहीं करनी चाहिये। बात करते समय बात करनेवालेके स्थानमें या उसके अंदर भगवान्‌को देखना चाहिये। फिर बात भी साधन हो सकता है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई

(लेखक—श्रीकामेश्वर चतुर्वेदी, सिद्धान्त-फलित ज्योतिषाचार्य, साहित्याचार्य)

प्राणिमात्रको अपने ही समान मानकर सुख पहुँचानेवाला मनुष्य ही सच्चा परोपकारी कहलाता है। अष्टादश पुराणोंमें भगवान् वेदव्यासने पाप एवं पुण्यका लक्षण केवल दो ही वचनोंमें बताया है कि परोपकारसे पुण्य और परपीडनसे पाप होता है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

इस विषयपर निम्नलिखित दृष्टान्त अच्छा प्रकाश डालता है। प्राचीन समयमें किसी ग्राममें एक ब्राह्मण-दम्पति निवास करते थे। एक बार उन्हें भारी कठिनाईका सामना करना पड़ा। घरकी सभी धन-सम्पत्ति नष्ट हो गयी। भरपेट भोजन भी प्राप्त नहीं हो रहा था। जो भी उद्यम करते, निराशा ही हाथ लगती।

एक दिन दुःखित होकर पत्नीने कहा—'नाथ! इस तरह भूखे रहकर हमलोग कितने दिन बिता पायेंगे? प्राणरक्षा करना भी तो एक महान् धर्म है। मेरी विनम्र प्रार्थना स्वीकार करें। यहाँसे चार कोस दूरपर स्थित एक ग्राममें धर्मदास नामक सेठ रहते हैं। वे मनुष्यसे पुण्य खरीदकर बदलेमें धन प्रदान करते हैं। आप अपना किया कुछ पुण्य बेंचकर धन ले आइये।'

पहले तो ब्राह्मण देवता उद्यत नहीं हुए; किंतु अन्ततः पत्नीने उन्हें उद्यत कर ही लिया। वे चलनेको उद्यत हुए। पत्नीने नमक-मिश्रित चार रोटियाँ मार्गमें भोजनके लिये बाँध दीं और ब्राह्मण देवता धन कमानेके लिये सेठजीके ग्रामकी ओर चल पड़े।

लगभग दो कोस चलनेके बाद उन्हें भूख-प्यास सताने लगी। जंगलमें एक कुँआके पारचेपर बैठकर उन्होंने एक लोटा पानी भरा। जब वे रोटियाँ निकालकर खानेके लिये उद्यत हुए, उसी समय एक कुतिया, जो हालमें ही ब्यायी थी, अपने नन्हें-नन्हें चार बच्चोंके साथ सामने आकर खड़ी हो गयी। ब्राह्मणने देखा कि कुतियाका मुख बहुत उदास है। भूखके कारण उसके प्राण निकले जा रहे हैं। उन्होंने अपनी एक रोटी उसके सामने डाल दी। कुतिया देखते-ही-देखते उसे चट कर गयी और फिर ताकने लगी। ब्राह्मण देवताने उसे दूसरी, तीसरी और चौथी रोटी भी दे दी। कुतिया चारों रोटियाँ खाकर मन-ही-मन आशीर्वाद देती हुई प्रसन्न मुद्रासे अपने बच्चोंके साथ अपने स्थानको चली गयी।

ब्राह्मणने केवल ठंडा जल ही पी लिया। वे थोड़ी देर विश्राम कर अपने अभीष्ट स्थान—सेठजीके द्वारपर पहुँचे। सेठजीके निकट जाकर उन्होंने अपना पूरा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया और उनसे पुण्यके बदले धनकी याचना की।

सेठजी परम धार्मिक एवं ब्रह्मज्ञानी थे। उन्होंने कहा—'ब्राह्मण देवता! आपने जो जीवनमें सबसे बड़ा पुण्य किया है, उसे बेंचिये और बदलेमें धन ले लीजिये।'

ब्राह्मण बोले—'ले लीजिये।'

सेठजी—'आपने आज जो राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ किया है, उसका पुण्य मुझे बेंच दीजिये।'

ब्राह्मण—'आज तो मैंने कोई यज्ञ नहीं किया। सीधे घरसे चला आ रहा हूँ। आज ही नहीं, अपने पूरे जीवनमें राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ करनेकी कभी कल्पना भी नहीं की है, फिर आप उसका पुण्य कैसे माँग रहे हैं?'

सेठजी—'आज रास्तेमें आपने जो उस भूखी असहाय कुतियाके लिये चार रोटियाँ दीं, उसका पुण्य राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञसे भी बढ़कर है। आप उसके बदलेमें हीरा, पन्ना, सुवर्ण आदि जो भी चाहें, ले जा सकते हैं।'

सेठजीने अनुमानसे उतने ही वजनकी चार रोटियाँ बनवायीं, जितने वजनकी कुतियाको खिलायी गयी थीं। तराजूके एक पलड़ेमें रोटियाँ रखी गयीं और दूसरेमें हीरा, पन्ना, सोना, चाँदी। सेठजी डालते जा रहे थे। सारा पलड़ा भर गया, पर रोटियोंवाला पलड़ा अभीतक जमीनमें ही टिका हुआ था। ब्राह्मण आश्चर्यचकित हो गये। रोटियोंका महत्त्व समझकर बोले—'सेठजी! मैं इसका पुण्य नहीं बेंच सकता।' सेठजीने कहा—'जैसी आपकी इच्छा।'

अब ब्राह्मण देवता अपने घरको रवाना हुए। मार्गमें जहाँ उन्होंने उस कुतियाको रोटियाँ खिलायी थीं, वहाँके ईंट-पत्थर, कंकड़ आदिको एक चादरमें बाँध लिया। गठरी बनाकर सिरपर रख ली और अपने घरके लिये प्रस्थान किया। घर आकर आँगनमें पत्थरोंवाली गठरी रख दी और स्वयं भोजन करने कमरेमें चले गये।

ब्राह्मणी चुपकेसे बाहर आयी। सोचा—देखें, इस गठरीमें क्या बँधा है। परोपकार कभी निष्फल नहीं जाता। जैसे ही उसने गठरी खोली, प्रभु-कृपासे ईंट-पत्थर आदि सब हीरा, पन्ना, सुवर्णके रूपमें परिणत हो गये थे। ब्राह्मणीने हर्षातिरेकसे ब्राह्मणको शीघ्र बाहर आनेको कहा। ब्राह्मण भी उसे देखकर आश्चर्य-चकित हो उठे।

उस दिन असहाय कुतियाके ऊपर उन्होंने जो उपकार किया, वह एक महान् राजसूय एवं अश्मेधयज्ञके समान फलप्रदाता बन गया। तुलसी बाबा भी इसीकी साक्षी दे रहे हैं—'परहित सरिस धर्म नहिं भाई।'

विभु बालक

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा, बी० ए० (आनर्स)

लघु बालक! आत्माराम तुम्हीं; केशव-सम लीला-धाम तुम्हीं,
तुम आत्मरूप हो पिता स्वयं, हो जगत्पिताके बालक भी।
हो नारद ध्रुव प्रह्लाद तुम्हीं, हो गौतम कपिल कणाद तुम्हीं,
तुम केवल शिष्य नहीं गुरु भी, हो छात्र और अध्यापक भी॥
हो विगत-मोह-मद-मान तुम्हीं, हो सद्गुण-सत्य-प्रधान तुम्हीं,
तुम्ह स्वतः सुशील विनीत सरल, हो धीर-वीर जन-नायक भी।
निश्छल निर्मल निर्द्वन्द्व तुम्हीं, निर्लेप शान्त स्वच्छन्द तुम्हीं,
तुम बुद्ध-बुद्ध सिद्धार्थ स्वयं, हो जन-आराधक साधक भी॥
हो निर्विकार निष्पाप तुम्हीं, अपने समान हो आप तुम्हीं,
तुम प्रजा प्रजापतिकी अद्भुत, ऋषि-देव-पितृ-कुल-पालक भी।
आनन्द सत्य सद्ज्ञान तुम्हीं, साकार सगुण भगवान तुम्हीं,
हृद नतमस्तक, तुम परम पुरुष, हो विश्व-सृष्टि-संचालक भी॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कृतज्ञता

महेशाणमें मेरी कपड़ेकी दूकान है। मंगलवारका अवकाश होनेसे मुझे उघरानीके निमित्त सौलैया गाँव जाना पड़ा। मेरा काम लगभग दो बजे पूरा हो गया। लौटती बस ढाई बजे मिलनी थी। आधा घंटेका समय था। मेरे मित्रने बस-स्टैंडके समीप ही नया मकान बनवाया था, इसलिये मैं उनसे मिलने चला गया।

आँगनमेंसे ही उनकी पुत्रीने 'आइये अम्बालाल भाई!' कहकर मेरा सत्कार किया और घरमें विश्राम कर रहे मेरे मित्रको मेरे आनेकी सूचना दी। मित्रने तुरंत आकर मेरा प्रेमसे सत्कार किया, अपार आनन्द व्यक्त किया और तुरंत पुत्रीको चाय बनानेको कहा। नया घर बनवाया था, अतः घुमाकर सब दिखाया। फिर पलँगपर बैठते-बैठते मैंने कहा—'आपने पुराने घरको क्या किया?' 'पुराना घर तो हमने अपने रामजी भाईको दे दिया है। घर अच्छा और मोहल्लेके बीचमें था, इसलिये लेनेवाले बहुत थे; परंतु मुझे घर रामजी भाईको ही देना था। रामजी भाई चार पीढ़ीके अन्तरके सम्बन्धमें भी भाई लगते थे। हमने रामजी भाईसे स्वयं जाकर घर ले लेनेको कहा। रामजी भाईको घरकी आवश्यकता थी और हमने स्वयं ही जाकर कहा था, इसलिये संकोचके साथ उन्होंने स्वीकार कर लिया। मूल्य तय करनेके लिये गाँवके पाँच पंच बुलाये। उन्होंने ४५००० रुपये मूल्य तय किया। तब मैंने उठकर कहा कि मैंने २५००० रुपयेमें रामजी भाईको मकान दे दिया और पैसे भी वे जब सुविधानुसार देंगे, तब लेने हैं।' तत्पश्चात् पंखा तथा चित्र उतारनेकी चर्चा चली तो मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा कि 'यह पंखे और चित्र ले जायँगे तो रामजी भाई नये लेकर नहीं आयेंगे। रामजी भाई मेरे घरमें रहें तो घर ऐसा ही लगना चाहिये जैसा कि मेरे रहनेपर लगता है।' घरके सब लोग सहमत हो गये और पंखे, चित्र तथा घरकी शोभाके अन्य उपकरण भी ज्यों-के-त्यों रहने दिये।

मैंने पूछा—'रामजी भाईके लिये आपने क्यों इतना प्रेम प्रदर्शित किया?' तब उन्होंने बताया—'जब हम दोनों भाई छोटे थे और माँ विधवा हो गयी थी, उस समय रामजी भाईके पिताने हमें सहारा दिया था। वे हमारे खेतोंकी बुआई कर देते और हमारी माँको सब प्रकारकी सहायता देकर आश्वासन देते कि कुछ दिनमें लड़के बड़े हो जायँगे और सब दुःख समाप्त हो जायगा। उनके आश्वासनसे हमारी माँ सौलैया गाँवमें रही। रामजी भाईके पिताजीके शब्दोंके प्रमाणस्वरूप आज हम सुखी हैं, सब प्रकार सम्पन्न हैं; परंतु उनका उपकार हम भूल जायँ तो भगवान् प्रसन्न नहीं रहेंगे।' इस प्रकार कहते-कहते उनका हृदय भर आया। यह बात उनकी वृद्धा माताजी भी सुन रही थीं। उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु छलक पड़े और मेरा हृदय भी भर आया। यह घटना मैं कभी भूल नहीं सकूँगा। (अखण्ड-आनंद)

—अम्बालाल मगनलाल पटेल

(२)

वह कौन था ?

अजमेरके नागपहाड़में बैजनाथ महादेव नामका एक अत्यन्त रमणीय स्थान है। पावस ऋतुमें यहाँ सैलानियोंका ताँता लगा रहता है। यहाँ एक बारहमासी निर्झर है, जिसके कारण दो-तीन कुण्ड पानीसे लबालब भरे रहते हैं। स्थान निर्जन है। कोई भी गाँव दो किलोमीटरसे कम दूर नहीं है।

मैं इस स्थानपर कभी अवसर मिलता है तो दो-चार दिनके लिये चला जाता हूँ। मैं एक स्कूलमें अध्यापक हूँ। अतः ग्रीष्मावकाश एवं दशहरावकाशपर लम्बी छुट्टियों

रहती है। दो साल पहले मैं यहाँपर गया था, मुझसे यह भूल हो गयी कि मैं अजमेरसे कृष्णगंज होता हुआ गया। यह रास्ता लगभग ग्यारह कि० मी० लम्बा निकला। साधारणतया मैं बूढ़ा पुष्करतक बससे जाता हूँ और वहाँसे पाँच किलोमीटर पैदल रेतमें चलकर पहुँचता हूँ। कृष्णगंजवाले रास्तेमें पाँच-छः कि० मी० के बाद मैं थकान अनुभव करने लगा। मेरे दोनों कंधोंपर दो थैले थे, जिनमें भोज्य सामग्रीके साथ दिनचर्याका सामान था। मार्ग चूँकि अनुमानसे अधिक निकला, इसलिये पहाड़की तलहटीतक पहुँचते-पहुँचते रात्रिके लगभग आठ बज गये। यहाँतक पहुँचते-पहुँचते मैं अत्यधिक थक गया था। पहले जूते पहन रखे थे, उससे फफोले निकल आये तो चप्पलें पहनीं। उनसे भी अँगुलियोंकी पोरोंमें फफोले हो गये। मैं नंगे पैर ही पहाड़पर चढ़ने लगा। अनभ्यस्त पैरोंमें कंकड़-पत्थर बुरी तरह चुभते थे। अक्टूबरके अन्तिम सप्ताह-में कृष्णपक्षकी रात्रि थी। पहाड़पर रामनामके सहारे ज्यों-त्यों कर चढ़ गया।

वहाँसे बैजनाथ एक कि०मी० है। यहाँसे पगडंडीके एक ओर पहाड़ तथा दूसरी ओर गहरे गड्ढे हैं। पता नहीं, कब और कैसे मुझसे पगडंडी छूट गयी और मैं दो पहाड़ोंके बीचमें आगे बढ़ गया। उधर कोई रास्ता तो था नहीं, अतः ठोकरें खाने लगा। थैले बार-बार गिरने लगे और पैरोंमें अनगिनत चुभन होने लगी। रातके दस बज गये। मैं उन दिनों थोड़ा अस्वस्थ भी चल रहा था, अतः निराश-सा हो गया। पहाड़ोंके बीचकी ऊबड़-खाबड़ भूमिपर गहन अन्धकारके मध्य रात्रि काटनेके सिवा मेरे पास कोई उपाय न था। मैंने थैले उतारे और एक जगहको साफ करने लगा, जिससे टिककर तो बैठ सकूँ। एक पत्थरको थोड़ा हटाया ही था कि बड़े जोरकी 'सूँ-सूँ' सुनी। सम्भवतः नाग रहा हो। मैं डर गया। मेरे हृदयकी गति तीव्र हो गयी और शरीर पसीनेसे भीग गया। कठिनाई यह थी कि तीव्र अन्धकारके कारण मैं कहीं भाग भी नहीं सकता था। मेरे मुँहसे बरबस 'ॐ नमः शिवाय'-मन्त्र निकल पड़ा। मैंने शिवजीसे प्रार्थना की कि 'आप इस तरह मत मारें। जंगल-पहाड़ोंके मध्य रात्रिमें सर्पसे न कटवाएँ। मैं तो आपके दर्शनार्थ आ रहा हूँ।' प्रार्थना और जप-भावना जोरसे चलती रही, पता नहीं कबतक।

तभी एक आवाज आयी—'कुण होसी? (कौन है?)' मैंने कहा—'भाई! बैजनाथ जाना है। रास्ता नहीं मिल रहा है।' उसने कहा—"नमः शिवाय'का जप थोड़ा धीरे करो, जिससे मैं आवाजके सहारे तुमतक पहुँच सकूँ। डूँगरों (टीलों)में आवाज बहुत गूँजती है।' वह चार मिनटमें मेरे पास पहुँच गया। मैंने कहा—'तुम यहाँ कैसे आये और कौन हो?' उसने कहा कि 'मैं पासके गाँवका रावत हूँ, मेरा नाम ज्योति है। मेरी बकरी खो गयी है, उसे ढूँढ रहा था कि तुम्हारी आवाज सुनी।' उसने मुझे कँकरीले-पथरीले रास्तेसे बचाते हुए पंद्रह मिनटमें ही बैजनाथ पहुँचा दिया और कहा—'वह देखो सफेद-सा जो दीख रहा है, वही बैजनाथ बाबाका मन्दिर है। अब बेखटके चले जाओ। दो मिनटमें पहुँच जाओगे। मैं चलता हूँ बाबा जी! मुझे अपनी बकरी ढूँढने जाना है।'

मैं बैजनाथमें पाँच-सात दिनतक रहा। मैंने उस गाँवमें जाकर ज्योति नामक रावतके विषयमें पूछा और बतलाया कि उस रात उसकी बकरी खो गयी थी और वही मुझे बैजनाथतक छोड़कर गया था। एक वृद्धने हँसते हुए कहा—'हाँ-हाँ, जभी उसकी कोई बकरी खो जाती है तभी वह पहाड़ोंमें घूमता है। हम सब उसकी बकरियाँ ही तो हैं।' मैं हक्का-बक्का रह उठा और सीधे उस स्थानपर गया जहाँ मार्ग-भूल होकर पहुँच गया था एवं जहाँ मैंने नागकी 'सूँ-सूँ' सुनी थी। मेरे नेत्रोंसे

आँसुओंकी धारा बह चली । मैंने अत्यन्त गद्गद कण्ठसे शिवजीको धन्यवाद दिया । उस स्थानसे मात्र एक बालिश्त दूर पचास फुट गहरा गड्ढा था । यदि मैंने पत्थर हटाकर वहाँ बैठनेकी चेष्टा की होती तो मेरी क्या दशा होती ?

तो क्या ग्वाले रावतके रूपमें स्वयं भगवान् शिव पधारे थे ? मैं ऐसा पुण्यात्मा तो नहीं कि स्वयं भगवान् शिव पधारें । फिर 'वह कौन था ?' यह मेरे लिये अबूझ पहेली ही है । —गोपालकृष्ण जिन्दल

(३)

राम-नामसे जीवन-दान मिला

प्रस्तुत घटना सीतापुर जिलेके एक गाँवकी है । अबसे लगभग बीस वर्ष पूर्व १९६५ ई०के मई-जूनके महीनोंकी गर्मियोंके दिन थे । रबीकी फसल कट चुकी थी, मड़ाईका समय था । उस समय मड़ाई बैलोंसे होती थी । उस समय मेरी आयु लगभग तेरह-चौदह सालकी थी । मैं दोपहरमें खलिहानसे बैलोंको साथ लेकर घर आया । घरसे खलिहानकी दूरी लगभग एक कि० मी० थी । पिताजी नौकरोंके साथ खलिहानमें ही गेहूँकी ओसाई (हवासे उड़ाकर भूसा और गेहूँको अलग करना) में लगे थे । मेरे बाबाने मुझसे खलिहानमें पानी ले जानेको कहा । मैं छोटी बाल्टीमें पानी और लोटा लेकर खलिहान गया । पानी देनेके बाद वापस आ रहा था । रास्तेमें एक तालाब पड़ता है, जिसके सूखनेपर गाँवके लोग मिट्टी निकालते थे, जिससे उसमें कहीं-कहीं बड़े गड्ढे हो गये थे । उसमें जानवरोंके पीनेके लिये पानी नहरसे भर दिया गया था । गाँवका धोबी भी तालाबमें कपड़े धोकर उसके किनारे घास-फूसपर कपड़े फैलाया करता था । तालाबके पास पहुँचकर मुझे स्नान करनेकी इच्छा हुई । मैं तुरंत कपड़े उतारकर तालाबमें धीरे-धीरे उतर गया और कमरतक पानीमें पहुँचकर डुबकी लगायी कि थोड़ा आगे और सरक गया । आगे अधिक गहरा था, उसीमें चला गया । नीचे जमीनमें पैर मारा तो ऊपर तो आया, किंतु बीचकी ओर और गहरेमें पहुँच गया । इस तरह मैं ऊपर-नीचे डूबने लगा । मुझे तैरना आता न था । कुछ ही देरमें अधिक पानी पी गया । 'अब बचनेकी कोई आशा नहीं'—ऐसा सोचकर कि अब तो मर ही रहा हूँ; अपने बाबाकी कही हुई बात, 'मरते समय यदि भगवान्‌का नाम लिया जाय तो मनुष्य सीधा स्वर्गमें जाता है' याद आ गयी ।

बस, फिर मैं राम-रामका जप मन-ही-मन करने लगा । फिर मुझे पता नहीं क्या हुआ । होश तब आया, जब मेरी पीठपर दबाव पड़ा और ढेर-सा पानी मुँह और नाकसे बाहर निकला । बादमें उसी व्यक्तिने, जिसने मुझे पीठपर लादकर घर पहुँचाया था, बताया—'मैं कपड़े धोनेके बाद उन्हें सूखनेके लिये किनारे घासपर डालकर घर गया कि खाना खाकर वापस आऊँ तो और कपड़े धोने हैं; किंतु घर पहुँचनेपर पता चला कि खाना अभी नहीं बना है । खाना तैयार होनेमें देर होती देखकर गुड़ खाकर पानी पिया और तालाबपर आ गया । यहाँ तालाबमें तुम्हें डूबते देखकर तुरंत पानीमें कूदा और पानीसे निकालकर बाहर लाया । पेट अधिक फूला देखकर उल्टा करके पैरसे दबाया तो अधिक मात्रामें पानी मुँह और नाकसे निकलनेपर तुम्हें होश आया ।'

आज जब उस घटनाके विषयमें सोचता हूँ तो भगवत्कृपाके आगे नतमस्तक होता हूँ । यदि उस दिन ईश्वरकी कृपा न हुई होती, धोबीके घरमें खाना तैयार होता और वह खाना खाकर तालाबपर आता तो सम्भवतः मेरी लाश ही पानीसे बाहर निकलती । धन्य है, परमेश्वरकी उस परम कृपाको, जिसके स्मरण मात्रसे मैं आज अपना अनुभव आपको लिख रहा हूँ ।

—संतबख्श सिंह

मनन करने योग्य

साधुशिरोमणि

एक साधुने ईश्वरप्राप्तिकी साधनाके लिये कठिन जप करते हुए छः वर्ष एकान्त गुफामें बिताये और प्रभुसे प्रार्थना की—'प्रभो ! मुझे अपने आदर्शके समान ही ऐसा कोई उत्तम महापुरुष बतलाइये, जिनका अनुकरण करके मैं अपने साधनपथमें आगे बढ़ सकूँ ।'

साधुने जिस दिन ऐसा चिन्तन किया, उसी दिन रात्रिमें एक देवदूतने आकर उससे कहा—'यदि तेरी इच्छा सद्गुणी और पवित्रतामें सबका मुकुटमणि बननेकी हो तो उस मस्त भिखारीका अनुकरण कर, जो कविता गाता हुआ इधर-उधर भटकता और भीख माँगता फिरता है ।' देवदूतकी बात सुनकर तपस्वी साधु मनमें जल उठा, परंतु देवदूतका वचन समझकर क्रोधके आवेशमें ही उस भिखारीकी खोजमें चल दिया और उसे खोजकर बोला—'भाई ! तूने ऐसे कौन-से सत्कर्म किये हैं, जिनके कारण ईश्वर तुझपर इतने अधिक प्रसन्न हैं ?'

उसने तपस्वी साधुको नमस्कार कर कहा—'पवित्र महात्मा ! मुझसे दिल्लगी न कीजिये । मैंने न तो कोई सत्कर्म किया, न कोई तपस्या की और न कभी प्रार्थना ही की । मैं तो कविता गा-गाकर लोगोंका मनोरंजन करता हूँ और ऐसा करते जो रूखा-सूखा टुकड़ा मिल जाता है, उसीको खाकर संतोष मानता हूँ ।' तपस्वी साधुने फिर आग्रहपूर्वक कहा—'नहीं, नहीं, तूने कोई सत्कार्य अवश्य किया है ।' भिखारीने नम्रतासे कहा—'महाराज ! मैंने कोई सत्कार्य किया हो, ऐसा मेरी जानमें तो नहीं है ।'

इसपर साधुने उससे फिर पूछा—'अच्छा बता, तू भिखारी कैसे बना ? क्या तूने फिजूलखर्चीमें पैसे उड़ा दिये, अथवा किसी दुर्व्यसनके कारण तेरी ऐसी दशा हो गयी ?'

भिखारी कहने लगा—'महाराज ! न मैंने फिजूल-खर्चीमें पैसे उड़ाये और न किसी व्यसनके कारण ही मैं भिखारी बना । एक दिनकी बात है, मैंने देखा एक गरीब स्त्री घबरायी हुई-सी इधर-उधर दौड़ रही है, उसका चेहरा उतरा हुआ है । पता लगानेपर ज्ञात हुआ कि उसके पति और पुत्र कर्जके बदलेमें गुलाम बनाकर बेंच दिये गये हैं । अधिक सुन्दरी होनेके कारण कुछ लोग उसपर भी अपना अधिकार जमाना चाहते हैं । यह जानकर मैं उसे ढाढस देकर अपने घर ले आया और उसकी उनके अत्याचारसे रक्षा की, फिर मैंने अपनी सारी जायदाद साहूकारोंको देकर उसके पति-पुत्रोंको गुलामीसे छुड़ाया और उन्हें उससे मिला दिया । इस प्रकार मेरी सारी सम्पत्ति चली जानेसे मैं दरिद्र हो गया और आजीविकाका कोई साधन न रहनेसे मैं अब कविता गा-गाकर लोगोंको रिझाता हूँ और इसीसे जो टुकड़ा मिल जाता है, उसीको लेकर आनन्द मानता हूँ । पर इससे क्या हुआ ? ऐसा काम क्या और लोग नहीं करते ?'

भिखारीकी कथा सुनते ही तपस्वी साधुकी आँखोंसे मोती-जैसे आँसू झड़ने लगे और वह उस भिखारीको हृदयसे लगाकर कहने लगा—'मैंने अपने जीवनमें तेरे-जैसा कोई काम नहीं किया । तू सचमुच आदर्श साधु है' ।—संदेश

आनन्दधामकी खोज

(लेखक—श्रीविश्वम्भरजी 'सत्यार्थी')

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥

(छा० उ० ७ । २३ । १)

सुखस्वरूप शान्तिनिकेतन प्रभु ही हैं। प्रभुके सिवा जो कुछ भी है, वह असत्, मिथ्या, क्षणभङ्गुर और दुःखसे परिपूर्ण है। ईश्वरको छोड़कर जो अनित्य पदार्थोंमें सुख ढूँढ़ते हैं, वे दुःख ही पाते हैं। इसलिये सुख और शान्तिके लिये भगवान्की ही खोज करनी चाहिये।

भौतिक पदार्थोंमें सुख होता तो वह सभीको उपलब्ध होना चाहिये था, परंतु ऐसा होता नहीं है। एक वस्तु जो एक व्यक्तिको अच्छी लगती है, वही दूसरेको बुरी लगती है। प्रायः जिसे जिस वस्तुका अभ्यास पड़ गया है, उसे वही अच्छी लगती है। इसका कारण यह है कि बार-बारके अभ्याससे चित्तकी वृत्तियाँ उस पदार्थमें एकत्रित हो जाती हैं, जिससे उस भूमाका आनन्द, जो सर्वत्र परिपूर्ण है एवं जिसे आत्मा, परमात्मा, भगवान्, ईश्वर, ब्रह्मके नामसे पुकारते हैं, आने लगता है। अज्ञानवश भोगी उस पदार्थमें ही आनन्दको समझता है और उसके लिये बेचैन हो जाता है तथा इसी प्रकार अज्ञानमें पड़ा रहता है। जैसे किसी मनुष्यने अफीम, तंबाकू, गाँजा आदि खाने-पीनेकी आदत डाल ली है। जब इनमेंसे कोई भी वस्तु नहीं मिलती, तब वह बेचैन हो जाता है और प्राप्त होनेपर खा-पीकर आनन्दित होता है। यदि इन वस्तुओंमें सुख होता तो इन्हें खाने-पीनेका जिन्हें अभ्यास नहीं, उन्हें भी इनके खाने-पीनेपर सुख होना चाहिये था; परंतु इसके विपरीत उन्हें चक्कर, घुमेड़ आने लगते हैं और वमनतक हो जाता है। कितने ही पागल होकर मृत्युके ग्रास बन जाते हैं। इसलिये सिद्ध है कि प्रकृतिके किसी भी पदार्थमें सुख नहीं है—केवल मनके एकाग्र होनेसे ही आत्माका आनन्द आने लगता है, जिसे मनुष्य मूर्खता-वश उस पदार्थमें समझता है।

अतः जिसे सुख-शान्ति-आनन्दकी अभिलाषा हो, उसे प्रभुकी ही खोज करनी चाहिये। चाहे उसे आत्मरूपसे खोजो, चाहे परमात्मारूपसे—बात एक ही है। बिना आत्माके शान्ति कहीं भी नहीं है। चतुर विवेकी पुरुषोंको आत्माकी ही खोज करनी चाहिये। जिन्होंने प्रभुको ढूँढा है, आत्मज्ञानको प्राप्त किया है, उन्हें ही शान्ति प्राप्त हुई है।

> जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ।
> हौं बौरी बूडन डरी रही किनारे बैठ॥

जिन्होंने तीनों प्रकारकी एषणाओंको त्यागकर प्रभुकी सच्चे मनसे खोज की है, उन्होंने ही उस शान्तिनिकेतन आनन्दसिंधुको पाया है। आनन्दके इच्छुक बहुत-से पागल भी ढूँढ़ने गये, परंतु भयभीत होकर एषणाओंको न त्याग सके, इसलिये किनारेपर ही रह गये अर्थात् प्रभुको न पा सके। प्रभुको पानेके लिये सर्वस्वकी आहुति देनी पड़ती है। समस्त कामनाओंको छोड़ना पड़ता है। मनको सब ओरसे हटाकर प्रभुमें ही लगाना होता है। तभी प्रभुकी प्राप्ति होती है।

श्रीगीता-जयन्ती

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

'जो पुरुष सर्वत्र सबके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके समान देखता है, अर्जुन! मेरे मतसे वही श्रेष्ठ योगी है।'

आजके इस अत्यन्त संकीर्ण स्वार्थपूर्ण जगत्में दूसरेके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझनेकी शिक्षा देनेके साथ कर्तव्य-कर्मपर आरूढ़ करनेवाला और कहीं भी आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्सेवाके लिये ही यज्ञमय जीवन-यापन करनेकी सत्-शिक्षा देनेवाला सार्वभौम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता ही है। इसका विश्वमें जितना ही वास्तविक रूपमें अधिक प्रचार होगा, उतना ही वह सच्चे सुख-शान्तिकी ओर आगे बढ़ सकेगा।

इस वर्ष मार्गशीर्ष शुक्ला ११, गुरुवार, दिनाङ्क ११ दिसम्बर, १९८६ ई०को श्रीगीता-जयन्तीका महापर्व-दिवस है। इस पर्वपर जनतामें गीताप्रचारके साथ ही श्रीगीताके अध्ययन—गीताकी शिक्षाको जीवनमें उतारनेकी स्थायी योजना बननी चाहिये। आजके किंकर्तव्यविमूढ़ मोहग्रस्त मानवके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता है। इस पर्वके उपलक्षमें श्रीगीतामाता तथा गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णका शुभाशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य यथासाध्य और यथासम्भव देशभरमें सभी छोटे-बड़े स्थानोंमें अवश्य होने चाहिये—

(१) गीताग्रन्थ-पूजन,

(२) गीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा गीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन,

(३) गीताका यथासाध्य व्यक्तिगत और सामूहिक पारायण,

(४) गीतातत्त्वको समझने-समझानेके हेतु, गीता-प्रचारार्थ एवं समस्त विश्वको दिव्य-ज्ञानचक्षु देकर सबको निष्कामभावसे कर्तव्य-परायण बनानेकी महती शिक्षाके लिये इस परम पुण्य दिवसका स्मृतिमहोत्सव मनाना तथा उसके संदर्भमें सभाएँ, प्रवचन, व्याख्यान आदिका आयोजन एवं भगवन्नाम-संकीर्तन आदि करना-कराना,

(५) महाविद्यालयों और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान, गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र-छात्राओंको पुरस्कार-वितरण आदि,

(६) प्रत्येक मन्दिर, देवस्थान, धर्मस्थानमें गीता-कथा तथा अपने-अपने इष्ट भगवान्‌का विशेष-रूपसे पूजन और आरती करना,

(७) जहाँ किसी प्रकारकी अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी शोभायात्रा (जुलूस) निकालना,

(८) सम्मान्य लेखक और कवि महोदयोंद्वारा गीता-सम्बन्धी लेखों और सुन्दर कविताओंके द्वारा गीता-प्रचार करने और करानेका संकल्प लेना, तदर्थ प्रेरणा देना और—

(९) देश, काल, पात्र (परिस्थिति)के अनुसार गीता-सम्बन्धी अन्य कार्यक्रम अनुष्ठित होना चाहिये।

—सम्पादक

॥ श्रीहरिः ॥

'कल्याण'का आगामी (जनवरी १९८७का) विशेषाङ्क

'शक्ति-उपासना-अङ्क'

'कल्याण'का आगामी ६१ वें वर्ष (सन् १९८७)का विशेषाङ्क परब्रह्म परमात्मा-के आद्यपराशक्तिस्वरूप, मातृरूप—पराम्बा भगवतीके स्तवन-अर्चनके रूपमें 'शक्ति-उपासना-अङ्क' प्रकाशित होना सुनिश्चित हुआ है। बहुत वर्षों पूर्व सन् १९३५ में 'कल्याण'-के ९वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'शक्ति-अङ्क' प्रकाशित हुआ था। उस समय 'कल्याण'के ग्राहक सीमित संख्यामें थे; अतः बहुत थोड़े लोग ही उससे लाभ उठा सके। बहुत दिनोंसे 'कल्याण'के अनेक प्रेमी पाठकों एवं ग्राहक-अनुग्राहकोंका 'शक्ति'-विषयक विशेषाङ्क पुनः प्रकाशित करनेका अत्यधिक प्रेमाग्रह होता रहा है। उन सबकी सत्प्रेरणा एवं भगवदनुकम्पासे ही अब यह शुभ सुयोग समुपस्थित होनेपर ऐसी आशा की जाती है कि इस अङ्ककी अत्यधिक माँग हो सकती है। आजके विक्षुब्ध विश्ववातावरणमें सर्वत्र व्याप्त घोर अशान्ति, मदान्ध दानवी-प्रवृत्तियोंके बाहुल्य और उनके अत्याचारोंसे ग्रस्त-त्रस्त निराश मानवताके परित्राणार्थ एवं विश्व-कल्याणार्थ आद्याशक्ति भगवतीकी उपासना और अभ्यर्थना बड़ी ही सामयिक, सर्वसमर्थ साधनरूप और सबल सम्बल है। इस दृष्टिसे यह विशेषाङ्क आत्म-कल्याणाकाङ्क्षी साधकों एवं भगवद्विश्वासी सर्वसामान्य आस्तिकों एवं भक्तोंके लिये परम उपादेय सिद्ध हो सकता है।

इस अङ्कमें शक्तितत्त्व-मीमांसा, शक्ति-उपासनाकी मुख्य विधाएँ, शास्त्रोंमें शक्तिके विविधस्वरूप, भारतीय संस्कृतिमें शक्ति-उपासनाके स्वरूप, दस महाविद्याएँ, अन्नपूर्णा-उपासना, ललिताम्बा-उपासना, तारारहस्य-निरूपण, श्रीयन्त्र और उसकी उपासना, शक्तिके उपासक—महर्षि, सिद्ध, संत और भक्त, भारतके प्रधान शक्तिपीठ एवं सुप्रसिद्ध प्राचीन शक्ति-स्थल तथा देवि-तीर्थोंका रोचक वर्णन इत्यादि विषयानुरूप तात्त्विक, गम्भीर और रोचक दोनों प्रकारकी पठनीय सामग्री रहेगी। अतएव सभी इच्छुक सज्जनोंको वार्षिक-मूल्य मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर अपनी प्रति सुरक्षित करा लेनेमें शीघ्रता करनी चाहिये। जिन महानुभावोंसे वार्षिक-शुल्क-राशि अग्रिम प्राप्त हुई रही रहेगी, उन्हें विशेषाङ्क (रजिस्ट्रीद्वारा) भेजनेमें प्राथमिकता दी जायगी। विशेषाङ्क बचनेकी दशामें ही वी० पी० पी० द्वारा अङ्क भेजना सम्भव हो सकेगा। वी० पी० पी० से मँगानेमें डाकखर्चके रूपमें ४.०० (चार रुपये) अतिरिक्त भी लगेंगे। इस प्रकार प्रत्यक्षतः चार रुपयेकी बचत तथा अपना विशेषाङ्क शीघ्र सुरक्षित और पहले प्राप्त करनेकी दृष्टिसे वी० पी० पी०की प्रतीक्षामें न रहकर सभी इच्छुक भाई-बहनोंको वार्षिक-शुल्क ३०.०० (तीस रुपये) मात्र मनीआर्डरसे अग्रिम भेजना ही उपयुक्त है।